नई दिल्ली
रविवार, 14 जून, 2026, मूल्य-15.00
राष्ट्रीय
वर्ष-8 अंक-34 पृष्ठ- 8
RNI: DELHIN / 2018 / 76679
Postal Reg. No. DL(C)-05/1425/2025-27
License To Post Without Pre Payment No. U(C)-164/2025-27
Magazine Post Reg. No. DL(DS)-31/MP/25-26-27

संडे नवजीवन

Freedom is in Peril, Defend it with all your might Jawaharlal Nehru

आप-हम जहां भी रहते हों, यह पीड़ा भोग रहे हैं कि आबादी बढ़ने से पेयजल की किल्लत बढ़ रही 3
ईएसआईसी के निजीकरण से और बढ़ेंगी दिक्कतें 4

गायब होती कंबल बुनकरी 8

www.navjivanindia.com | @navjivanindia | www.nationalheraldindia.com | www.qaumiawaz.com

विपक्ष के लिए बुनियादी उसूलों की कसौटी

नई दिल्ली के कांस्टीटयूशन क्लब में हुई इंडिया गठबंधन की बैठक

प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के पहले कार्यकाल के चौथे साल, यानी 2018 से स्वीडन के वी-डेम इंस्टीट्यूट ने भारत को 'इलेक्टोरल ऑटोक्रेसी' (चुनावी तानाशाही) माना है। यह विवादास्पद वर्गीकरण तब से बना हुआ है, हालांकि असल में लोकतांत्रिक गिरावट उस स्तर से कहीं ज्यादा गंभीर है। वी-डेम की 'डेमोक्रेसी रिपोर्ट' के 2026 संस्करण में, भारत को इसके 'लिबरल डेमोक्रेसी इंडेक्स' में 179 देशों में 105वां स्थान मिला है।

जिन नागरिकों ने इस गिरावट को पहले चिंता, फिर घबराहट और अब निराशा के साथ देखा है, उनके लिए 2024 के लोकसभा चुनावों ने कुछ समय के लिए उम्मीद की एक किरण दिखाई थी। यह बात जून 2024 की है, जब विपक्ष आज की तुलना में कहीं ज्यादा एकजुट था और उसने मिलकर मजबूती से मुकाबला किया था, जिससे भाजपा लोकसभा में साधारण बहुमत हासिल करने से चूक गई थी।

फिर, बस दो महीने पहले अप्रैल 2026 में, इसी विपक्ष ने भाजपा+ सरकार के उस परिसीमन बिल को लाने की कोशिश को नाकाम कर दिया था, जिससे संसद में दक्षिणी राज्यों का प्रतिनिधित्व बहुत कम होने और भारत के संघीय ढांचे के कमजोर होने का खतरा था।

केन्द्र में सत्ता केन्द्रित करने की अपनी बिल्कुल साफ कोशिश में, भाजपा 'एक देश, एक चुनाव' और इसी सोच पर आधारित कई दूसरे एकात्मक तरीकों को भी आगे बढ़ा रही है।

भाजपा-संघ की मुख्य एकात्मक सोच का आधार उनका वैचारिक नारा है: 'एक देश, एक निशान, एक विधान, एक प्रधान' (एक देश, एक झंडा, एक संविधान, एक प्रधानमंत्री)। यह ऐतिहासिक सोच भाजपा की पूर्ववर्ती पार्टी- भारतीय जनसंघ और उसके संस्थापक श्यामा प्रसाद मुखर्जी से जुड़ी है।

नरेन्द्र मोदी के दौर में इसने 'एक देश, एक चुनाव', 'एक देश, एक टैक्स', 'एक देश, एक राशन कार्ड', 'एक देश, एक ग्रिड', 'एक देश, एक यूनिफॉर्म' वगैरह के रूप में अपने नए पैर पसारे हैं।

*

भले ही भाजपा 2024 में सत्ता में लौटी, लेकिन उसे इस जीत से कुछ सबक मिले, जिसमें हार जैसी झलक भी थी। वह विपक्ष को पूरी तरह से कुचल नहीं पाई और चुनाव से पहले उसने 400 पार वाली भारी बहुमत का जो नारा दिया था, उससे वह काफी पीछे रह गई। उत्तर प्रदेश में, जहां पार्टी ने एक बड़ी सांस्कृतिक जीत के तौर पर नए राम मंदिर का उद्घाटन किया था, वहां वह 80 में से 33 सीटों पर सिमट गई, जबकि समाजवादी पार्टी ने 37 सीटें जीतीं। उसे फैजाबाद की प्रतिष्ठित सीट भी गंवानी पड़ी, जिसमें अयोध्या का विधानसभा क्षेत्र भी आता है। उस हार ने बहुत चुभन पैदा की।

विपक्ष को रिश्वत देने, डराने-धमकाने और तोड़ने वाली तमाम टूलकिट का इस्तेमाल करने के बावजूद, इसे कुल वोटों का सिर्फ 36.6 प्रतिशत ही मिल पाया। इससे आम जनता के बीच इसकी असल लोकप्रियता का तो कुछ अंदाजा लगता है, लेकिन सत्ता की बागडोर पर इसके जरूरत से ज्यादा कब्जे के बारे में पूरी बात पता नहीं चलती।

2024 के नतीजों से भाजपा ने यह अहम सबक सीखा

संपादकीय

कि सत्ता पर अपनी पकड़ और मजबूत करने के लिए उसे और ज्यादा कोशिश करनी होगी। उसे एहसास हुआ कि अब तक किए गए तमाम कामों के बावजूद, वह संविधान को फिर से लिखने के लिए जरूरी दो-तिहाई बहुमत हासिल करने लायक समर्थन स्वाभाविक रूप से नहीं जुटा पाई थी। एक बेकाबू सांड की तरह पूरी लगन के साथ, उसने देखा कि एकमात्र रास्ता मतदाताओं की संरचना को ही फिर से तैयार करना है - यानी वोटर लिस्ट की व्यापक स्तर पर छंटनी करना और यह पक्का करना कि मतदाताओं की इस छंटनी का फायदा निर्णायक रूप से भाजपा को ही मिले। यहीं एसआईआर की एंट्री होती है।

वोटर लिस्ट को नए सिरे से तैयार करने के प्रोजेक्ट में भाजपा को भारत के चुनाव आयोग का साथ मिल रहा है, जो एसआईआर की देखरेख करता है। पाठकों को पता होगा कि चुनाव आयोग को एक स्वतंत्र और निष्पक्ष संस्था माना जाता रहा है, लेकिन अब चुनाव आयुक्तों को (कानूनी तौर पर) सत्ताधारी पार्टी के 2:1 बहुमत से चुना जाता है, जिससे असल में आयोग एक सरकारी विभाग जैसा बन जाता है। यह नया कानून 'सीईसी और अन्य चुनाव आयुक्त विधेयक, 2023' के जरिये अस्तित्व में आया, जिसे अप्रैल-मई 2024 में होने वाले लोकसभा चुनावों से पहले दिसंबर 2023 में पारित किया गया था।

नए कानून के तहत, मुख्य चुनाव आयुक्त (सीईसी) और अन्य चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा एक चयन समिति की सिफारिश पर की जाती है। इस चयन समिति में प्रधानमंत्री, केन्द्रीय कैबिनेट के एक मंत्री और लोकसभा में विपक्ष के नेता (या सबसे बड़ी विपक्षी पार्टी के नेता) शामिल होते हैं। चुनाव आयोग ने स्क्रिप्ट पढ़ ली है और अब वह अपने नए बॉस को रिपोर्ट कर रहा है।

बिहार (एसआईआर के पहले चरण के बाद नवंबर 2025 में) और पश्चिम बंगाल (एसआईआर के दूसरे चरण के बाद अप्रैल 2026 में) में होने वाले विधानसभा चुनाव, एसआईआर के मकसद और उसके असर को दिखाने के लिए बेहतरीन उदाहरण हैं। बंगाल में एसआईआर की प्रक्रिया पूरी होने के बाद, राज्य में योग्य वोटरों की संख्या एसआईआर से पहले के 7.66 करोड़ के बेसलाइन आंकड़े से लगभग 90 लाख कम थी। बिहार में 69 लाख वोटरों के नाम हटा दिए गए थे।

> विपक्ष को यह समझ जाना चाहिए कि चुनाव अब भाजपा का मुकाबला करने के लिए निष्पक्ष मैदान नहीं रह गए हैं। उन्हें भारतीय लोकतंत्र, लोकतांत्रिक संस्थाओं, मीडिया और लोगों तक अपनी बात पहुंचाने के अन्य माध्यमों पर कब्जे के खिलाफ लड़ने के लिए दूसरे रास्ते खोजने होंगे

जो नागरिक इन घटनाक्रमों को चिंता की नजर से देखते हैं, उन्हें उम्मीद थी कि सुप्रीम कोर्ट इस मामले में दखल देगा, सवाल उठाएगा और चुनाव आयोग को जवाबदेह ठहराएगा। लेकिन 27 मई 2026 को सुप्रीम कोर्ट ने एसआईआर प्रक्रिया को क्लीन चिट दे दी। सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश सूर्य कांत और न्यायमूर्ति जॉयमाल्य बागची की बेंच ने फैसला सुनाया कि एसआईआर प्रक्रिया संवैधानिक है और चुनाव आयोग की कानूनी शक्तियों के दायरे में है। कोर्ट ने कहा कि वोटर लिस्ट की अखंडता, सटीकता और विश्वसनीयता बनाए रखने के लिए एसआईआर प्रक्रिया जरूरी है।

इस एसआईआर का तीसरा चरण अभी बाकी 16 राज्यों और तीन केन्द्र-शासित प्रदेशों में चल रहा है। पहले दो चरणों में, जिनमें 10 राज्य और 3 केन्द्र-शासित प्रदेश शामिल थे, 7.2 करोड़ नाम हटाए गए (और चुनाव आयोग के अनुसार, 2 करोड़ नाम जोड़े गए)। यह एसआईआर से पहले के आंकड़ों की तुलना में 10.2 प्रतिशत कम है- दूसरे शब्दों में, इस प्रक्रिया के कारण हर 10 भारतीय वोटरों में से एक का वोट देने का अधिकार खत्म हो गया है।

*

हालांकि मुख्यधारा की मीडिया ने वोटर लिस्ट से जान-बूझकर नाम हटाने और उसमें संदिग्ध छेड़छाड़ के सभी सबूतों को लगभग दबा दिया था, फिर भी ऐसी कई रिपोर्टें (इस अखबार और 'द वायर', 'न्यूजलॉन्ड्री', 'स्क्रॉल', 'द न्यूज मिनट', 'रिपोर्टर्स कलेक्टिव' जैसे मीडिया संस्थानों में) और दूसरे खुलासे सामने आए - जैसे कर्नाटक के महादेवपुरा और आलंद के बारे में राहुल गांधी के खुलासे - जिनसे इस मामले की गहन जांच की मांग उठी। इस बात पर वाजिब शक पैदा करने के लिए काफी सबूत थे कि एसआईआर के साथ छेड़छाड़ हुई थी, फिर भी, चुनाव आयोग से जवाब मांगने, एसआईआर के बारे में साफ-साफ बात करने और पेश किए गए सबूतों को गलत साबित करने की मांग करने के बजाय, सुप्रीम कोर्ट ने इस प्रक्रिया पर अपनी मंजूरी की मुहर लगा दी है।

इससे विपक्ष को यह समझ जाना चाहिए कि चुनाव अब भाजपा का मुकाबला करने के लिए निष्पक्ष मैदान नहीं रह गए हैं। उन्हें भारतीय लोकतंत्र, लोकतांत्रिक संस्थाओं, मीडिया और लोगों तक अपनी बात पहुंचाने के अन्य माध्यमों पर कब्जे के खिलाफ लड़ने के लिए दूसरे रास्ते खोजने होंगे। विपक्षी नेताओं को यह याद रखना चाहिए कि स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनावों, हमारे लोकतंत्र, हमारे संविधान और भारत की विविधतापूर्ण पहचान पर हो रहे हमले का मुकाबला करने के लिए उन्हें एकजुट होना होगा।

सरकार चलाने के लिए न्यूनतम साझा कार्यक्रम बनाने से पहले उन्हें कॉमन थ्रेट परसेप्शन (खतरे को लेकर एक जैसी समझ) तय करनी होगी। दोबारा सरकार चलाने का मौका पाने के लिए उन्हें सबसे पहले साथ मिलकर काम करना होगा, असली सहयोगियों और धोखेबाजों की पहचान करनी होगी और असली सहयोगियों को अपने साथ बनाए रखना होगा। 8 जून को हुई 'इंडिया' ब्लॉक की बैठक एक शुरुआत है। अभी बहुत लंबा सफर बाकी है। ■

आपका ही गिरेबां आपको दिखाया, तो बुरा मान गए

जब असल सूचनाएं खबरिया चैनलों के बजाय यूट्यूबरों की दुनिया से मिलने लगें, तो बहस का सिरा बदलना ही था

नंदलाल शर्मा

देश में 2016 में रातों-रात हुई नोटबंदी का वह वीडियो आज भी सोशल मीडिया पर घूमता रहता है, जिसमें एक टीवी एंकर का दावा है कि 'नए जारी नोटों में नैनोचिप' लगी हैं, जिन्हें सैटेलाइट से ट्रैक किया जा सकता है और जिसके जरिये छिपाकर रखे गए कैश का पता लगाया जा सकता है। दावे प्राइम-टाइम के अन्य कई एंकरों ने भी ऐसे ही किए थे। खबर भले ही झूठी थी, लेकिन उस मीडिया संस्कृति की पहचान बन गई जो सत्ता के सामने सच बोलने के बजाय गलत जानकारी फैलाता था।

लगभग एक दशक बाद, मई 2025 में 'ऑपरेशन सिंदूर' के दौरान, मुख्यधारा के टीवी चैनल गिरावट की नई हदें पार करते दिखे। कई जाने-माने एंकरों का ऑन-एयर दावा था कि भारतीय नौसेना ने कराची बंदरगाह पर हमला किया है। फैक्ट-चेक पोर्टल 'ऑल्टन्यूज' ने इसे उसी तरह झूठा, निराधार और प्रोपेगैंडा प्रेरित बताया, जैसा चैनलों की 'रिपोर्टिंग' में आमतौर पर होता है।

यह दो घटनाएं पुष्टि करती हैं कि नरेन्द्र मोदी काल में टेलीविजन पत्रकारिता किस कदर मजाक बनकर रह गई है। इससे समझा जा सकता है कि आखिर क्यों युवा पीढ़ी सूचना, समसामयिक मुद्दों, शिक्षा बल्कि हर सही बात जानने के लिए अन्य जगहों का रुख कर रही है।

मुख्यधारा की मीडिया पर युवा भरोसा किस कदर टूटा है, मई 2026 में खुलकर सामने आ गया। नीट पेपर लीक कांड और सीबीएसई क्लास 12 की ऑनलाइन मार्किंग में हुई गड़बड़ी को लेकर देशभर में गुस्सा फैल गया। छात्रों ने शिक्षामंत्री धर्मेंद्र प्रधान का इस्तीफा मांगा। सरकार और मुख्यधारा का मीडिया इसे नजरंदाज करते दिखे, लेकिन इसी बीच एक निजी टीवी चैनल की जानी-मानी महिला एंकर और कोचिंग टीचरों के बीच सोशल मीडिया पर जंग छिड़ गई। एंकर ने टीचरों को 'बेकार और मामूली लोग' कहा था।

अब यह मामला दिल्ली हाईकोर्ट में है, जहां उस टीवी नेटवर्क और एंकर ने खान सर, अभिनय शर्मा, बबीता त्यागी और अन्य टीचरों पर दो करोड़ रुपये का मानहानि का मुकदमा किया है। शुरुआत 31 मई को हुई जब X पर अपनी एक पोस्ट में अंजना ओम कश्यप ने 'सेलिब्रिटी टीचर्स' पर 'कोचिंग माफिया' होने का आरोप लगाया। उन्होंने कहा कि ये लोग खुद को जनता का हितैषी बताते हैं, लेकिन असल में छात्रों और उनके माता-पिता का शोषण करते हैं।

ऑनलाइन पढ़ाने वाले शिक्षकों ने तत्काल इस पर प्रतिक्रिया दी। सबसे आगे अभिनय शर्मा थे जो एसएससी की तैयारी करने वाले बच्चों को गणित पढ़ाते हैं (जिनके यूट्यूब पर 30 लाख से ज्यादा सब्सक्राइबर हैं)। लाखों लोगों द्वारा देखे गए लाइवस्ट्रीम में, शर्मा ने 'गोदी मीडिया' की आलोचना की कि वह सत्ता में बैठे लोगों से सवाल पूछने के बजाय उन्हें बचाने का काम करता है।

पटना के 'खान ग्लोबल स्टडीज' के 'खान सर' नाम से चर्चित फैसल खान (61 लाख से ज्यादा सब्सक्राइबर) और सोनीपत की बबीता त्यागी भी उनके साथ आ गए। बबीता 'आईसीएस कोचिंग सेंटर' में छात्रों को यूपीएससी और अन्य प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी करवाती हैं (यूट्यूब पर उनके 37 लाख से ज्यादा सब्सक्राइबर हैं)। 1 जून के वीडियो पोस्ट में उन्होंने कहा: "हमारे प्राइम-टाइम न्यूज में ऐसी खबरें होती हैं कि झालमुड़ी में कैसा तेल इस्तेमाल होता है और उसकी महक कैसी होती है।"

महिला एंकर की अन्य रिपोर्टों के हवाले से हुए बबीता ने कहा: "उन्होंने एक बार बांग्लादेश की एक भैंस की तुलना डॉनल्ड ट्रंप से की थी, क्योंकि भैंस का नाम डॉनल्ड ट्रंप रखा गया था। किसी ने उसे इसलिए खरीद लिया, कि उसे काटा न जाए। हमारे देश में पत्रकारिता का अब यही स्तर है।" जल्द ही, देशभर में शिक्षक पूछने लगे: मीडिया नीट पेपर लीक पर बात क्यों नहीं करता? मोदी सरकार की जवाबदेही पर सवाल क्यों नहीं पूछता?

यह सब तब हो रहा था, जब माहौल राजनीतिक रूप से गरम था। राहुल गांधी के नेतृत्व में विपक्ष 'नीट' पर शिक्षामंत्री धर्मेंद्र प्रधान का इस्तीफा मांग रहा था। पेपर लीक के साथ, भर्ती और प्रवेश परीक्षाओं में गड़बड़ियों को लेकर प्रयागराज जैसे शहरों में छात्र विरोध-प्रदर्शन कर रहे थे। लेकिन इनपर ध्यान देने के बजाय, निशाना शिक्षकों को बनाया जा रहा था?

फोटो: गेटी इमेजेज

शिक्षक और यूट्यूबर फैसल खान जिन्हें 'खान सर' के नाम से जाना जाता है

> मुख्यधारा की मीडिया पर युवा भरोसा किस कदर टूटा है, यह खुलकर सामने आ गया। नीट पेपर लीक और सीबीएसई 12वीं की ऑनलाइन मार्किंग में हुई गड़बड़ी पर देशभर में गुस्सा फैला। छात्र शिक्षामंत्री धर्मेंद्र प्रधान की जवाबदेही मांग रहे हैं

बबीता ने पूछा कि नीति-निर्माताओं को प्रभावित करने का दावा करने वाला मीडिया, स्कूलों और परीक्षा प्रणालियों में सुधार पर जोर क्यों नहीं देता? "एक बार पेपर लीक हुआ, तो क्या उससे सबक नहीं लेना था? वही 'गलती' बार-बार क्यों होती है?" उनके अनुसार, जब शिक्षक छात्र-अधिकारों और संस्थागत विफलताओं पर मुखर होकर सवाल उठाने लगे, तो उन्हें निशाना बनाया गया।

'खान सर' के एक छात्र आफताब कहते हैं, "कॉम्पिटिटिव एग्जाम की तैयारी करने वाले छात्र राजनीतिक रूप से जागरूक होते हैं। हम संविधान, इतिहास और करंट अफेयर्स पढ़ते हैं। पता है कि 'गोदी मीडिया' भाजपा सरकार का बचाव करता है। लेकिन जब हमारे हितों पर असर पड़ता है, तो लगता है कि मीडिया हमारे लिए आवाज नहीं उठा रहा। हम पर मनोवैज्ञानिक असर पड़ता है। हमें कोई भविष्य नजर नहीं आता।" वह आगे कहते हैं: "टीचर तब मैदान में उतरे, जब उनके छात्रों की परेशानी बहुत ज्यादा बढ़ गई।"

वरिष्ठ पत्रकार सिद्धार्थ कलहंस मानते हैं कि ऑनलाइन पढ़ाने वाले लोग भले ही पेशेवर पत्रकार न हों, उनकी बातों की यूं ही अनदेखी नहीं हो सकती। ये ऐसे सार्वजनिक लोग हैं, जिनका लाखों छात्रों से सीधा जुड़ाव है। वे अगर पत्रकारिता के तौर-तरीकों पर सवाल उठाते हैं, तो बदले की भावना वाली प्रतिक्रिया के बजाय संवाद होना चाहिए।

इन शिक्षकों के आगे बढ़ने में देश, खासकर छोटे कस्बों और ग्रामीण इलाकों में सस्ते इंटरनेट के तेज फैलाव की बड़ी भूमिका रही है।

शेष पेज 2 पर ▸

एनएफएचएस से गायब संकेतकों के मायने

उज्ज्वला और स्वच्छ भारत मिशन जैसी कल्याणकारी योजनाओं के अमल का आकलन बेहद मुश्किल हो गया है

हरजिंदर

राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण की ताजा रिपोर्ट में बताने की जगह छिपाया ज्यादा गया है

तीन दशकों से अधिक समय से राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण (एनएफएचएस) को भारतीय आबादी की सेहत को समझने का सबसे खरा मानक माना जाता रहा है। 1990 के दशक की शुरुआत से समय-समय पर होने वाले इस सर्वे ने यह समझने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है कि भारतीय कैसे रहते हैं, क्या खाते हैं, उनका प्रजनन व्यवहार कैसा है और स्वास्थ्य सेवाओं तक उनकी पहुंच कितनी है।

इसके समृद्ध जिला-स्तरीय आंकड़ों ने नीति-निर्माताओं, शोधकर्ताओं, पत्रकारों और नागरिक समाज संगठनों को स्वास्थ्य सेवाओं की कमियों की पहचान करने, कल्याणकारी योजनाओं की निगरानी करने और सुधार की कोशिशों में भूमिका निभाई है।

इसी प्रतिष्ठा के कारण एनएफएचएस-6 (2023-24) की फैक्ट शीट जारी होने के बाद सार्वजनिक स्वास्थ्य क्षेत्र में तीखी बहस छिड़ गई है। जहां केन्द्र सरकार ने संस्थागत प्रसव, टीकाकरण कवरेज और कई अन्य स्वास्थ्य संकेतकों में सुधार को आगे रखा है, वहीं आलोचकों का कहना है कि सर्वे की सबसे उल्लेखनीय बात यह नहीं है कि वह क्या बताता है, बल्कि यह है कि वह क्या छिपा रहा है।

विवाद का केन्द्र उन कई महत्वपूर्ण संकेतकों को हटाया जाना है, जो सर्वे के पिछले चरणों में प्रमुखता से शामिल थे। सार्वजनिक स्वास्थ्य विशेषज्ञों का तर्क है कि इन्हें हटाने से पारदर्शिता कम होती है, पिछले सर्वेक्षणों से तुलना कठिन हो जाती है और प्रमुख सरकारी योजनाओं के प्रदर्शन का स्वतंत्र मूल्यांकन नहीं हो पाता। हटाए गए संकेतकों में खासकर वे संकेतक हैं जो सीधे तौर पर नरेन्द्र मोदी सरकार की कुछ प्रमुख कल्याणकारी योजनाओं से जुड़े हुए थे।

पिछली बार स्वच्छ ईंधन और स्वच्छता सुविधाओं तक पहुंच के आंकड़ों ने प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना और स्वच्छ भारत मिशन के प्रभाव का मूल्यांकन करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इनसे शोधकर्ताओं को यह समझने में मदद मिलती थी कि केवल एलपीजी कनेक्शन या शौचालय उपलब्ध कराए गए हैं या उनका उपयोग भी हो रहा है।

इस बार इनके गायब हो जाने से चिंता बढ़ गई है, खासकर इसलिए कि इन योजनाओं की दीर्घकालिक स्थिरता को लेकर पहले से ही सवाल उठ रहे हैं। उज्ज्वला योजना के तहत सब्सिडी वाले एलपीजी सिलेंडरों की संख्या प्रति वर्ष नौ से घटाकर चार कर दी गई है। पेट्रोलियम मंत्रालय के अनुसार, इस योजना के तहत लगभग 10.55 करोड़ एलपीजी कनेक्शन दिए गए हैं। लेकिन ईंधन उपयोग और स्वच्छता व्यवहार संबंधी जिला-स्तरीय आंकड़ों के अभाव में यह आकलन कठिन हो गया है कि इन योजनाओं के लाभ स्थायी हैं या लाभार्थी फिर पुराने ढर्रे की ओर लौट रहे हैं।

जन्म के समय लिंगानुपात (एसआरबी) और शिशु एवं बाल मृत्यु दर से जुड़े संकेतकों को हटाया जाना भी उतना ही महत्वपूर्ण है। एसआरबी को लंबे समय से लैंगिक भेदभाव की निगरानी और 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' जैसे अभियानों का असर मापने का एक महत्वपूर्ण पैमाना रहा है।

हालांकि इस जानकारी का कुछ हिस्सा अभी भी सैंपल रजिस्ट्रेशन सिस्टम (एसआरएस) जैसे माध्यमों से उपलब्ध है, लेकिन विशेषज्ञों का कहना है कि एनएफएचएस की विशेषता उसकी जिला-स्तरीय सूक्ष्मता थी। राष्ट्रीय या राज्य-स्तरीय औसत अक्सर स्थानीय स्तर की विफलताओं को छिपा देते हैं। एनीमिया यानी खून की कमी के आंकड़ों को हटाया जाना सबसे चिंताजनक है।एनएफएचएस-5 ने खुलासा किया था कि भारत की आधे से अधिक महिलाएं और बच्चे एनीमिया से पीड़ित हैं। इससे पोषण अभियान जैसे कार्यक्रमों पर गंभीर प्रश्न खड़े हुए थे।

> विवाद का केन्द्र उन कई महत्वपूर्ण संकेतकों को हटाया जाना है, जो सर्वे के पिछले चरणों में प्रमुखता से शामिल थे। इनमें वे भी हैं जो सीधे तौर पर मोदी सरकार की कुछ प्रमुख कल्याणकारी योजनाओं से जुड़े थे

सरकार का तर्क है कि इन आंकड़ों को हटाने का कारण राजनीतिक नहीं बल्कि वैज्ञानिक है। विशेषज्ञ कहते रहे हैं कि सर्वे के पिछले चरणों में इस्तेमाल किया गया उंगली से खून का नमूना लेने का तरीका बहुत सटीक नहीं है, इसमें खून पतला होने का खतरा रहता है। इसी कारण एनीमिया के आकलन को 'डाइट एंड बायोमार्कर्स सर्वे इन इंडिया' (डीएबीएस-1) के तहत कर दिया गया है, जहां शिरा से लिए गए नमूनों का प्रयोगशालाओं में ऑटो-एनालाइजर से परीक्षण किया जाता है।

हालांकि वैज्ञानिक समुदाय मानता है कि यह तरीका अधिक सटीक है, लेकिन आलोचकों का कहना है कि इस सटीकता की कीमत जानकारी के नुकसान के रूप में चुकानी पड़ी है। स्वास्थ्य विशेषज्ञों के लिए चिंता का विषय यह है कि एनएफएचएस-6 से एनीमिया को हटाने से एनीमिया की समस्या समाप्त नहीं हो जाती। इसके बजाय यह समस्या केवल कम दिखाई देने लगती है। स्वास्थ्य कार्यकर्ता डॉ. ए. के. अरुण इसमें एक व्यापक पैटर्न देखते हैं। उनके अनुसार, "वे सभी संकेतक हटाए जा रहे हैं जो किसी कमी को उजागर करते हैं, चाहे वह समाज के स्वास्थ्य की कमी हो या व्यवस्था की।"

सिर्फ संकेतकों को ही नहीं हटाया गया, एक पूरे प्रदेश को ही सर्वे से बाहर कर दिया गया है। एनएफएचएस-6 के तहत देशभर के लगभग 6.8 लाख परिवारों से जानकारी एकत्र की गई, लेकिन मणिपुर को इससे बाहर रखा गया क्योंकि वहां लंबे समय से जारी जातीय हिंसा और अस्थिरता के कारण फील्डवर्क बाधित हुआ। इससे एक बड़ा सूचना-रिक्त क्षेत्र बन गया है। हाल के भारतीय इतिहास के सबसे गंभीर आंतरिक संकटों में से एक का सामना कर रहे इस राज्य में अब नीति-निर्माताओं, शोधकर्ताओं और मानवीय सहायता एजेंसियों के पास यह आकलन करने के लिए व्यापक आंकड़े नहीं हैं कि संघर्ष ने पोषण, मातृ स्वास्थ्य, बाल स्वास्थ्य और स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुंच को किस प्रकार प्रभावित किया है।

एक और बड़ा नुकसान दिव्यांगता के आंकड़ों का है। दिव्यांगता से जुड़े प्रश्न पहली बार एनएफएचएस-5 में शामिल किए गए थे, जिससे शोधकर्ताओं को यह अध्ययन करने का अवसर मिला था कि दिव्यांगता का मातृ स्वास्थ्य, तपेदिक और स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुंच जैसे विभिन्न स्वास्थ्य परिणामों से क्या संबंध है।

सरकार ने इस निर्णय का बचाव करते हुए कहा है कि दिव्यांगता की व्यापकता समय के साथ बहुत धीरे-धीरे बदलती है और एनएफएचएस इसे सटीक रूप से मापने के लिए आदर्श रूप से तैयार नहीं किया गया था। अधिकारियों ने यह भी कहा कि एनएफएचएस के अनुमान अन्य सर्वेक्षणों की तुलना में काफी कम थे। हालांकि, दिव्यांग अधिकार समूह इस तर्क से संतुष्ट नहीं हैं। उनका कहना है कि यदि आकलन की चुनौतियां थीं भी, तो प्रश्नों को पूरी तरह हटा देना एक गंभीर सूचना-शून्यता पैदा करता है।

एनएफएचएस-6 को लेकर बहस का संबंध एक पूर्व विवाद से भी है, जिसमें सर्वेक्षण कराने वाली मुंबई स्थित संस्था इंटरनेशनल इंस्टीट्यूट फॉर पॉपुलेशन साइंसेज (आईआईपीएस) शामिल थी। जुलाई 2023 में, जब एनएफएचएस-6 की तैयारियां चल रही थीं, केन्द्र सरकार ने भर्ती प्रक्रियाओं में कथित अनियमितताओं का हवाला देते हुए आईआईपीएस के निदेशक के.एस. जेम्स को निलंबित कर दिया। इस कार्रवाई ने अकादमिक जगत में तुरंत अटकलों को जन्म दिया। आलोचकों का दावा था कि जेम्स से पहले इस्तीफा मांगा गया था क्योंकि सर्वेक्षण के कुछ निष्कर्ष सरकार की कुछ योजनाओं की प्रभावशीलता पर सवाल उठाते थे।

हालांकि सरकार का कहना है कि यह कार्रवाई पूरी तरह प्रशासनिक थी, लेकिन इस घटना ने संस्थागत स्वायत्तता और बड़े पैमाने पर सार्वजनिक आंकड़ा-संग्रह अभियानों की स्वतंत्रता को लेकर चिंताओं को और बढ़ा दिया। विडंबना यह है कि कई संकेतकों के गायब होने के बावजूद जो आंकड़े उपलब्ध हैं, वे भी गंभीर चुनौतियों की ओर संकेत करते हैं।

एनएफएचएस-6 गैर-संचारी रोगों (एनसीडी) के बढ़ते बोझ को दर्शाता है। विशेषज्ञों के अनुसार भारत अब कुपोषण के "दोहरे बोझ" का सामना कर रहा है। जहां लगभग पांचवां हिस्सा वयस्कों का अभी भी कम वजन वाला है, वहीं शहरी और ग्रामीण दोनों क्षेत्रों में मोटापा तेजी से बढ़ रहा है। सर्वेक्षण के अनुसार, अब 30.7 प्रतिशत महिलाएं और 27.3 प्रतिशत पुरुष मोटापे या अधिक वजन की श्रेणी में आते हैं, जो पिछले सर्वेक्षण की तुलना में उल्लेखनीय वृद्धि है। इसके साथ ही उच्च रक्त शर्करा और उच्च रक्तचाप के मामलों में भी वृद्धि दर्ज की गई है, जो भारत की रोग-प्रोफाइल में एक बड़े बदलाव का संकेत है। बढ़ते स्वास्थ्य उद्योग से जुड़ा मोटापा इस सर्वेक्षण के सबसे अधिक चर्चित निष्कर्षों में से एक बन गया है।

अन्य चिंताएं भी कम गंभीर नहीं हैं। केवल स्तनपान (एक्सक्लूसिव ब्रेस्टफीडिंग) की दर में गिरावट आई है, आधुनिक गर्भनिरोधक साधनों का उपयोग कम हुआ है और सिजेरियन प्रसव लगातार बढ़ रहे हैं।

एनएफएचएस हमेशा केवल आंकड़ों का संग्रह भर नहीं रहा है। यह लोकतांत्रिक जवाबदेही का औजार रहा है। चिंता केवल इस बात की नहीं है कि कुछ संकेतकों को हटा दिया गया है। चिंता इस बात की है कि इन्हें हटाने से सरकारी योजनाओं का मूल्यांकन करना, संवेदनशील आबादी की पहचान करना और दीर्घकालिक रुझानों की निगरानी करना कहीं अधिक कठिन हो गया है। ■

आपका ही गिरेबां आपको दिखाया, तो बुरा मान गए

पेज एक का शेष

वे रूढ़ अर्थों वाले शिक्षक नहीं रह गए हैं, इन्फ्लुएंसर और राय बनाने में भी उनकी बड़ी भूमिका हैं। ऑनलाइन दुनिया में 'अवस्थी सर' के नाम से चर्चित अंकित अवस्थी ऐसे ही शिक्षक हैं। आईआईटी ग्रेजुएट और राजस्थान प्रशासनिक सेवा के लिए चयनित अंकित का अपना यूट्यूब चैनल है, जिसकी पहुंच 58 लाख से ज्यादा छात्रों तक है। अंकित अपने चैनल पर शैक्षिक सामग्री के साथ-साथ सम-सामयिक मुद्दों, सार्वजनिक नीतियों पर भी बात करते हैं।

कोविड-19 के बाद यह इकोसिस्टम बदला। महामारी पूर्व भारत के कोचिंग उद्योग में 'फिजिकल क्लासरूम' का बोलबाला था। लॉकडाउन में पढ़ाई-लिखाई ऑनलाइन हुई, और जो शिक्षक डिजिटल प्लेटफॉर्म के जरिये अच्छे से बात कर सकते थे, उनके तमाम चाहने वाले बन गए। कई शिक्षक पढ़ाई-लिखाई से हटकर अन्य मुद्दों पर भी भरोसेमंद आवाज बन गए।

'खान सर' का सफर इस बदलाव का बेहतरीन उदाहरण है। शुरुआत में ऑफलाइन पढ़ाने वाले खान महामारी के दौरान मशहूर हुए। पढ़ाने का उनका 'गंवई' अंदाज छात्रों को खूब भाया। एल्गोरिदम के असर में जैसे-जैसे उनका कंटेंट पहुंचा, दर्शक तेजी से बढ़े। फीस भी कम थी। (खान ग्लोबल स्टडीज यूट्यूब मेंबरशिप 59 रुपये प्रति महीना है। मोबाइल ऐप भी है।) जाहिर है, कम आय वाले परिवारों को खान सर भाए और अपनाए गए।

आफताब बताते हैं कि उन्होंने खान सर के ऑफलाइन कोचिंग प्रोग्राम से बीपीएससी परीक्षा की तैयारी की, जिसके लिए सिर्फ 2,600 रुपये दिए (दूसरे कोचिंग सेंटर 20,000 रुपये लेते हैं)। उन्हें तीन महीने पढ़ाई के साथ इंस्टिट्यूट की टेस्ट सीरीज का फ्री एक्सेस भी मिला। उनका कहना है कि ऑनलाइन और ऑफलाइन कोचिंग फीस कम हुई, तो खान सर का बड़ा हाथ है। तीन साल पहले, कोचिंग सेंटर रिकॉर्डेड लेक्चर के लिए भी 8,000 से 10,000 रुपये लेते थे। आज, महंगाई के बावजूद, रिकॉर्डेड कोर्स लगभग 2,000 रुपये में मिल जाते हैं। कंटेंट अच्छा है, फीस कम है और टीचर भी अच्छे से पढ़ाते हैं।

आफताब कहते हैं, "खान सर के पढ़ाने का तरीका इतना आसान है कि एक रिक्शा चलाने वाला भी उसे समझ सकता है। जैसे, जब वह ईरान-इराक युद्ध के बारे में बताते हैं, तो ऐसे समझाते हैं मानो दो पड़ोसी लड़ रहे हों। बातों में भोजपुरी भी रहती है। बात करते हैं, तो लगता है जैसे कोई बड़ा भाई बोल रहा हो।"

आज उनके पास प्राइवेट बॉडीगार्ड हैं, तमाम चाहने वाले हैं। मीडिया का भी खासा ध्यान रहता है। हाल ही में कोचिंग इंस्टिट्यूट के बाहर हुई गोलीबारी के बाद, खान सर मुख्यधारा की सुर्खियों में फैसल खान के तौर पर सामने आए। कई बार बिना सोचे-समझे कुछ भी बोलने या महिलाओं को लेकर मजाक की आदत पर उनकी आलोचना भी हुई, जो उचित ही है।

छात्र अरुण पांडे कहते हैं: "यह तो सारे ही टीचर करते हैं, ताकि माहौल हल्का-फुल्का बना रहे... कुछ लोगों को यह अच्छा नहीं लगता, लेकिन कुछ इसे नजरअंदाज भी करते हैं। ...एक घंटे के वीडियो में, संभव है कि सामाजिक या राजनीतिक मुद्दों पर कुछ मिनट की ही बात हो। लेकिन जब आपके पास 300 वीडियो हों, तो हर वीडियो से ऐसा एक हिस्सा लेने पर भी 300 अलग-अलग क्लिप बन जाते हैं।"

खान ग्लोबल स्टडीज की ऑफलाइन स्टूडेंट काजल कुमारी इसे अलग नजरिये से देखती हैं: "इसमें कुछ भी अजीब या असहज नहीं है। वह समय-समय पर ऐसी बातें करते रहते हैं ताकि बच्चे बोर न हों।" काजल 15,000 रुपये की फीस देकर बीपीएससी प्रीलिम्स, मेन्स और इंटरव्यू की तैयारी कर रही हैं। उनके पास कई विकल्प हैं; वह बिहार पुलिस, पैरामेडिकल और फायरफाइटिंग सेवाओं के साथ-साथ बिहार विधान परिषद में एक पद के लिए पहले ही चुनी जा चुकी हैं। वह तल्खी से कहती हैं: "मीडिया अपना काम ठीक से कर रहा होता, तो वर्ल्ड प्रेस फ्रीडम इंडेक्स में उसकी रैंकिंग 157वीं नहीं होती।" ऐसी प्रतिक्रिया की असल वजह शायद यह भी हो कि पहली बार, केन्द्र सरकार की नाकामियां मुख्यधारा के मीडिया के बजाय सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म के जरिये उनतक पहुंच रही हैं जो इससे प्रभावित हैं।

इस टकराव से उठा सवाल बहुत सीधा-सादा है: मुख्यधारा का मीडिया अपनी 'वॉचडॉग' (निगरानी करने वाली) वाली भूमिका लगातार और ईमानदारी से निभाता, तो क्या ये कोचिंग टीचर और यूट्यूबर उसके सबसे प्रभावशाली आलोचक बन पाते? बेशक, छात्र तब भी उनकी क्लास में जाते और उनके लेक्चर देखते। लेकिन किसने सोचा होगा कि एक दिन वे मुख्यधारा के मीडिया को उसकी जिम्मेदारियों की याद दिलाएंगे, और उसकी पत्रकारिता का 'पोस्टमॉर्टम' करेंगे? ■

पंजाब में भाजपा की कलाबाजी

हरजिंदर

अमृतसर में एक कार्यक्रम में एसजीपीसी और डीएसजीएमसी प्रमुखों के साथ भाजपा नेता और महाराष्ट्र के मंत्री गिरीश महाजन

हर हाल में अपना उल्लू सीधा करना- लगता है कि 2027 के विधानसभा चुनावों की तैयारी कर रही भाजपा की पंजाब रणनीति का यही सार है। जिस राज्य में वह परंपरागत रूप से हाशिये वाला खिलाड़ी रही है, वहां अपनी पैठ बनाने की बेचैनी में हाल के दिनों में उसकी कुछ राजनीतिक कलाबाजियों ने पंजाब के राजनीतिक हलकों को हैरान कर दिया है।

छह जून को संघ की पृष्ठभूमि वाले भाजपा के वरिष्ठ नेता और महाराष्ट्र सरकार में कैबिनेट मंत्री गिरीश दत्तात्रेय महाजन अमृतसर के मेहता चैक स्थित दमदमी टकसाल मुख्यालय में ऑपरेशन ब्लू स्टार की 42वीं बरसी के कार्यक्रम में शामिल हुए। यह आयोजन हमेशा से राजनीतिक रूप से संवेदनशील माना जाता रहा है। शिरोमणि अकाली दल के वरिष्ठ नेता भी, सिख राजनीति में अपनी गहरी जड़ों के बावजूद, आम तौर पर इन स्मरण आयोजनों से दूरी बनाए रखते रहे हैं। ऐसे में महाराष्ट्र से आधिकारिक रूप से भेजे गए भाजपा प्रतिनिधि की इस वार्षिक आयोजन में शिरकत पहली बार हुई।

महाजन की वहां मौजूदगी से ज्यादा विवादास्पद उनके मंच से दिए गए बयान थे। उन्होंने ऑपरेशन ब्लू स्टार को सेना का हमला बताया, छह जून 1984 को भारतीय इतिहास का "काला दिवस" कहा और इसमें मारे गए लोगों को "शहीद" बताया। उन्होंने तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी पर स्वर्ण मंदिर परिसर में सेना को जबरन भेजने का आरोप लगाया और इस सैन्य कार्रवाई की तुलना अहमद शाह अब्दाली के आक्रमणों से की।

ये बयान पंजाब में भाजपा के लंबे समय से चले आ रहे रुख के विपरीत हैं। दशकों तक भाजपा नेताओं ने जरनैल सिंह भिंडरांवाले और उनके सहयोगियों का महिमामंडन का विरोध किया है। पार्टी का कहना रहा है कि ऑपरेशन ब्लू स्टार, चाहे जितना दुखद रहा हो, कानून-व्यवस्था बहाल करने के लिए किया गया था।

कार्यक्रम में "सनातनी सिख" शब्दावली के इस्तेमाल पर जहां कई सिख संगठनों ने आपत्ति जताई, वहीं अधिकांश लोगों के मन में यह सवाल था कि महाराष्ट्र के मंत्रालय में जल संसाधन मंत्री मेहता चैक के मंच तक आखिर कैसे पहुंच गए। हालिया घटनाक्रमों पर नजर रखने वालों का मानना है कि यह यात्रा उतनी अचानक नहीं थी, जितनी दिखाई दी।

दमदमी टकसाल और भाजपा के बीच बढ़ती निकटता कुछ समय से स्पष्ट दिख रही है। 2024 के महाराष्ट्र विधानसभा चुनावों के दौरान टकसाल प्रमुख बाबा हरनाम सिंह ने भाजपा की अगुवाई वाले महायुति गठबंधन का समर्थन किया था। इसी साल टकसाल ने महाराष्ट्र सरकार द्वारा आयोजित गुरु तेग बहादुर जी के 350वें शहीदी कार्यक्रम में भी भाग लिया था, जिसमें केन्द्रीय गृह मंत्री अमित शाह भी मौजूद थे। भाजपा प्रवक्ता प्रो. सरचंद सिंह के अनुसार, महाजन की यात्रा "पारस्परिक सद्भाव" के लिए थी। महाजन वहां महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। इस स्पष्टीकरण को स्वीकार कर लिया जाए, तो इसका अर्थ होगा कि भाजपा काफी समय से उन अतिवादी समूहों के साथ संबंध विकसित कर रही है, जिन्हें वह कभी संदेह की दृष्टि से देखती थी।

दिलचस्प बात यह है कि जब अमित शाह से महाजन की टिप्पणियों के बारे में पूछा गया, तो उन्होंने इसे महाजन की "व्यक्तिगत राय" बताते हुए पार्टी को उससे अलग कर लिया। आलोचकों का सवाल है कि यदि ये वास्तव में व्यक्तिगत विचार थे, तो फिर कार्यक्रम में एक वरिष्ठ मंत्री को भेजा ही क्यों गया?

इस विवाद ने महाराष्ट्र में भी बहस छेड़ दी है। ऑपरेशन ब्लू स्टार का नेतृत्व जनरल अरुण कुमार श्रीधर वैद्य ने किया था, जो महाराष्ट्र के एक प्रतिष्ठित जनरल थे और जिन्होंने इस अभियान में अपनी भूमिका की भारी कीमत चुकाई। 1986 में सेवानिवृत्ति के बाद पुणे में खालिस्तानी आतंकवादियों ने उनकी हत्या कर दी थी। वहां यह पूछा जा रहा है कि राज्य का एक मंत्री महाराष्ट्र के सबसे सम्मानित सैन्य अधिकारियों में से एक के बलिदान को कैसे नजरअंदाज कर सकता है?

> महाराष्ट्र के कैबिनेट मंत्री गिरीश महाजन ने ऑपरेशन ब्लू स्टार को सेना का हमला, छह जून 1984 को भारतीय इतिहास का 'काला दिवस' और इसमें मारे गए लोगों को 'शहीद' कहा

राजनीतिक विश्लेषकों का मानना है कि भाजपा के इस "बदलते" दृष्टिकोण के पीछे चुनावी मजबूरियां हैं। राजनीतिक विश्लेषक प्रो. कुलदीप सिंह के अनुसार, पार्टी पंजाब के सिख किसानों और ग्रामीण मतदाताओं के बीच अपनी सीमित स्वीकार्यता की बाधा को तोड़ने की कोशिश कर रही है। अब निरस्त किए जा चुके कृषि कानूनों की यादें आज भी पंजाब के ग्रामीण क्षेत्रों में भाजपा का पीछा कर रही हैं और पार्टी प्रतिरोध को कम कर अपना सामाजिक आधार बढ़ाने के रास्ते तलाश रही है।

पंजाब प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष अमरिंदर सिंह राजा वड़िंग इसे खतरनाक अवसरवाद बताते हैं। उन्होंने चेतावनी दी, "पंजाब ने लंबे समय से विभाजनकारी और सांप्रदायिक राजनीति को खारिज किया है। मामूली चुनावी लाभ के लिए इसे दोबारा जीवित करने की कोशिश मत कीजिए। आग से मत खेलिए। पंजाबी कभी भी ऐसे एजेंडे को स्वीकार नहीं करेंगे।" वड़िंग का यह भी तर्क है कि भाजपा अपने विरोधियों को नियमित रूप से "राष्ट्रविरोधी" करार देती है, जबकि खुद चुनावी लाभ के अनुसार राजनीतिक रुख अपनाती है।

भाजपा की वैचारिक कलाबाजियां मेहता चैक पर ही समाप्त नहीं हुईं। पिछले सप्ताह पंजाब भाजपा के नवनियुक्त अध्यक्ष केवल सिंह ढिल्लों ने घोषणा की कि यदि पार्टी सत्ता में आती है, तो वह यहां महाराजा रणजीत सिंह की "सरकार-ए-खालसा" को फिर से स्थापित करेगी। जिस पार्टी की वैचारिक जननी संस्था हमेशा से "हिंदू राष्ट्र" को ही अपना लक्ष्य बताती रही है, उसके नेता का यह दावा चौंकाने वाला तो है ही। ■

इस समाचारपत्र का प्रकाशन **पवन कुमार बंसल** द्वारा हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-11002 से **दि एसोसिएटेड जर्नल्स लिमिटेड**, हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-110002 की ओर से संपादन **राजेश झा** द्वारा और मुद्रण आर. सी. मल्होत्रा द्वारा दि इंडियन एक्सप्रेस (प्रा.) लिमिटेड प्रेस, ए-8, सेक्टर-7, नोएडा- 201301, उत्तर प्रदेश से किया जा रहा है।

गायब होती झीलें, पानी को तरसते शहर

मुंबई में टैंकर हड़ताल से लेकर बेंगलुरु में सूखती झीलों तक से साफ है कि आबादी बढ़ने से पेयजल की दिक्कतें बढ़ रही हैं

रश्मि सहगल

फोटो: आईएएनएस

मुंबई में जब टैंकर ऑपरेटरों की अनिश्चितकालीन हड़ताल हुई तो पानी संकट गहरा हो गया और लोग त्राहि-त्राहि करते रहे

भारत की कमर्शियल राजधानी मुंबई में पानी को लेकर स्थिति 9 जून के बाद से वैसे थोड़ी सुधरने लगी लेकिन करीब एक महीने तक तो त्राहि-त्राहि ही मची हुई थी। दरअसल, 7 मई को यहां प्राइवेट वॉटर टैंकर ऑपरेटरों ने अपनी सर्विस रोक दी। यह हड़ताल सेंट्रल ग्राउंड वॉटर अथॉरिटी द्वारा ग्राउंड वॉटर निकालने और नियमों के पालन को लेकर की गई कार्रवाई के कारण हुई। ऑपरेटरों को नो ऑब्जेक्शन सर्टिफिकेट (एनओसी) लेना था, कम-से-कम 200 वर्ग मीटर वाली उस जमीन के मालिकाना हक का सबूत देना था जहां कुआं है, और ब्यूरो ऑफ इंडियन स्टैंडर्ड्स द्वारा तय पानी की क्वालिटी के मानकों का पालन सुनिश्चित करना था। सरकार के आश्वासन के बाद टैंकर ऑपरेटरों ने हड़ताल वापस ली, तब लोगों ने राहत की सांस ली, अन्यथा तो लाखों लोग पानी के लिए तरसते ही रहते। दरअसल, मुंबई को पानी सप्लाई करने वाली सात झीलें लगभग खाली हो चुकी हैं और इस स्थिति के कारण हाउसिंग सोसायटियों में रहने वाले लोगों को पानी की बढ़ती किल्लत का सामना करना पड़ता है।

शहरी भारत में हर जगह यही हाल है। दिल्ली की कॉलोनियों के लाखों लोग पानी की अनियमित सप्लाई से जूझ रहे हैं। यमुना में पानी का स्तर गिर गया है और हरियाणा पर्याप्त पानी नहीं छोड़ पा रहा, जिससे दिल्ली में रोजाना करीब 8 करोड़ गैलन पानी की कमी हो गई है। दिल्ली जल बोर्ड के एक वरिष्ठ अधिकारी के मुताबिक, 'यमुना का जलस्तर सामान्य से 6.5 फुट नीचे है और हरियाणा सिंचाई विभाग का कहना है कि केवल 352 क्यूसेक पानी छोड़ा जा सकता है। हमें जितनी जरूरत है, उससे बहुत कम पानी मिल रहा है और हम बोरवेल और कैन वाले पानी पर निर्भर हैं।'

गुड़गांव में करोड़ों के लग्जरी अपार्टमेंट में रहने वाले भी पानी की राशनिंग से परेशान हैं। प्रति टैंकर 10,000 रुपये खर्च करने के बावजूद, सप्लाई कम पड़ रही है। गुरुग्राम मेट्रोपॉलिटन डेवलपमेंट अथॉरिटी का कहना है कि ऐसा कच्चे पानी की कमी से हो रहा है, क्योंकि मांग मौजूदा क्षमता से कहीं ज्यादा है।

पुणे में मुथा नदी पर चार बांध (खड़कवासला, पानशेत, वरसगांव और टेमघर) के बावजूद, हर गर्मी पानी की कमी बढ़ जाती है। नगर निगम ने बढ़ती मांग पूरी करने के लिए भामा आस्खेड़ बांध से पानी लेने की मंजूरी मांगी है। सिर्फ चार दशकों में, शहर का दायरा चार गुना बढ़ गया है। 1987 में यह 125 वर्ग किलोमीटर था जो आज 508 वर्ग किलोमीटर हो गया है, जबकि आबादी 2021 में 70 लाख से बढ़कर 2025-26 में अनुमानित 77.76 लाख हो गई है। हैदराबाद में रोजाना 20,000 से ज्यादा टैंकर बुक किए जा रहे हैं। मॉनसून में देरी और टैंकरों पर बढ़ती निर्भरता से जल बोर्ड को तीन शिफ्ट में काम करना पड़ रहा है। हैदराबाद के विशेषज्ञ सत्यनारायण बोलिसेट्टी कहते हैं, 'हैदराबाद में कई झीलें थीं, लेकिन 80 फीसद पर कब्जा हो गया है। पहले जुबली और बंजारा हिल्स के हरे इलाके पानी को रिचार्ज करने में मदद करते थे। अब इन पहाड़ियों पर निर्माण हो गया है और भूजल को रिचार्ज करने के बजाय बारिश का पानी बह जाता है।'

भारत में शहरी आबादी तेजी से बढ़ रही है- 2013 में यह 32 फीसद थी और 2025 में इसके 50 फीसद होने का अनुमान है। जाहिर है, पानी की कमी की समस्या और गंभीर हो गई है। मेट्रो शहरों में,जहां 12 फीसद आबादी यानी 50 करोड़ लोग रहते हैं, भूजल स्तर में गिरावट, अनियमित बारिश और नदियों के प्रदूषित होने जैसी समस्या झेल रहे हैं।

पानी की असमानता सामाजिक भेदभाव भी बढ़ाती है। दिल्ली की 12 अनौपचारिक बस्तियों में 500 परिवारों पर ग्रीनपीस का सर्वे बताता है कि 34 फीसद परिवार निजी ऑपरेटरों से पानी खरीदते हैं और इसपर वे आय का 15 फीसद तक खर्च कर देते हैं। सरकार के 3,000 वॉटर एटीएम लगाने का वादा पूरे नहीं हो पाया है। अप्रैल-जून में 20 एटीएम ही लगाए गए।

भारत पानी की भारी कमी वाले देशों में है। वर्ल्ड रिसोर्स इंस्टीट्यूट की 2023 की 'एक्वाडक्ट वॉटर रिस्क एटलस' रिपोर्ट के मुताबिक, पानी की घोर किल्लत का सामना कर रहे 25 देशों में भारत 24वें नंबर पर है। यानी देश अपने उपलब्ध पानी का कम से कम 80% हिस्सा इस्तेमाल कर रहा है। इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस के प्रोफेसर टी.वी. रामचंद्रन बताते हैं, 'बेंगलुरु में हरियाली 1970 के दशक में 68% थी, अब घटकर 4% रह गई है और शहर का 87% हिस्सा कंक्रीट से ढक गया है। कभी 100 फुट पर पानी था, अब 800 से 8,000 फुट की गहराई में मिलता है। बची झीलों के आस-पास हरियाली बढ़ाने से कुछ जगहों पर भूजल स्तर जरूर 320 फुट तक ऊपर आया है।' बेंगलुरु में 1970 के दशक में 250 से ज्यादा झीलें थीं, लेकिन अब सिर्फ 180 बची हैं; इनमें से कई सीवेज के गलत प्रबंधन से खराब हो चुकी हैं।

> हरियाली को फिर से बढ़ाना पानी की उपलब्धता बढ़ाने का सबसे किफायती तरीका है। बारिश के पानी, तालाबों या नदियों जैसे स्थानीय स्रोतों के सही इस्तेमाल से ही बढ़ाई जा सकती है जल सुरक्षा

बोलिसेट्टी कहते हैं, 'सत्तर साल पहले विशाखापत्तनम में 104 तालाब थे। आज सिर्फ दो हैं।' वह हैरानी जताते हैं कि ऐसे में मुख्यमंत्री चंद्रबाबू नायडू बाजार भाव से बहुत कम कीमत पर सैकड़ों एकड़ जमीन एआई डेटा सेंटर के लिए कैसे आवंटित कर सकते हैं जबकि इसमें लाखों गैलन पानी की जरूरत होगी।'

बहुत कम शहरों ने देहरादून जैसी बेतहाशा तबाही का सामना किया है, जिसे कभी 'पूर्व का वेनिस' कहते थे। शहर की 100 नहरें और 40 नदियां कंक्रीट के नीचे दब गई हैं। शहर की पर्यावरणविद् रेनू पॉल कहती हैं, 'नदियां गंदे नालों में बदल गई हैं। योजनाकार यह भूल जाते हैं कि शहरी जल स्रोत पारिस्थितिक संतुलन और जैव विविधता बनाए रखने में अहम भूमिका निभाते हैं।'

वर्ल्ड वाइड फंड फॉर नेचर ने 100 शहरों की सूची बनाई है, जिनमें भारत के 30 शहर शामिल हैं, जो 2050 में पानी के गंभीर संकट का सामना करेंगे। इस सूची में दिल्ली, मुंबई, कोलकाता, बेंगलुरु, लखनऊ और भोपाल जैसे शहर शामिल हैं। नीति आयोग की 2019 की रिपोर्ट में चेतावनी दी गई थी कि 2020 तक भारत के 21 शहरों में पानी पूरी तरह खत्म होने का खतरा है।

नदियां सूख रही हैं, पानी जमा करने वाली चट्टानें खत्म हो रही हैं और जमीन के नीचे से पानी निकालने की मात्रा अमेरिका और चीन को मिलाकर भी ज्यादा है। ग्रामीण इलाकों में लगभग 85 फीसद लोग पेयजल और 60 फीसद सिंचाई के लिए भूजल का इस्तेमाल कर रहे हैं। शिमला जैसे हिल स्टेशनों में भी पानी की कमी हो रही है। 2018 में टूरिस्ट सीजन में नल सूख गए थे। सभी हिल स्टेशनों का यही हाल है।

'साउथ एशिया नेटवर्क ऑन डैम्स, रिवर्स एंड पीपल' के कोऑर्डिनेटर हिमांशु ठक्कर कहते हैं, 'शहरीकरण से पानी तेजी से बह जाता है, जिससे पानी जमा नहीं हो पाता और नदियां सूखने लगती हैं। जंगल, वेटलैंड, स्थानीय जल स्रोत और खेत बारिश के पानी को सोखने और धीरे-धीरे छोड़ने में मदद करते हैं, जिससे नदियों में साल भर पानी का बहाव बना रहता है और बाढ़ व सूखे दोनों से बचाव होता है।'

शहरों में लंबे समय तक पानी की सुरक्षा बनाए रखने का तरीका दूर-दराज से पानी लाने के बजाय स्थानीय जल स्रोतों और हरियाली को बचाना और उन्हें पुनर्जीवित करना है। प्रोफ़ेसर रामचंद्रन का सुझाव है कि विकास को मापने के लिए सिर्फ जीडीपी पर निर्भर रहने के बजाय 'ग्रीन जाडीपी' को अपनाया जाए, जिसमें पर्यावरण को होने वाले नुकसान को भी ध्यान में रखा जाता है और टिकाऊ विकास को बढ़ावा मिलता है।

प्रधानमंत्री मोदी के महत्वाकांक्षी 'जल जीवन मिशन' के तहत 2024 तक 19 करोड़ घरों में नल से पानी पहुंचाने का वादा किया गया था, लेकिन 60 प्रतिशत कवरेज के दावों पर भ्रष्टाचार और अविश्वसनीय डेटा का साया है। कई जगहों पर लगे नलों में पानी नहीं आता।

पानी की गुणवत्ता गंभीर चिंता का विषय बनी हुई है। उद्योगों से निकलने वाला कचरा और गैरशोधित सीवेज नदियों को प्रदूषित करते हैं, जबकि कैडमियम, लेड और आर्सेनिक जैसी हानिकारक धातुएं पानी की सप्लाई को दूषित करती हैं।

यह बात घिसी-पिटी लग सकती है, लेकिन हरियाली को फिर से बढ़ाना पानी की उपलब्धता बढ़ाने का सबसे किफायती तरीका है। बारिश के पानी, तालाबों या नदियों जैसे स्थानीय स्रोतों का सही इस्तेमाल करके ही हम जल सुरक्षा बढ़ा सकते हैं। ■

माओवाद के बाद अब खदानों की बारी

गढ़चिरौली, बस्तर, सिंहभूम, लातेहार, कोडरमा आदि के खनिज समृद्ध जंगलों को अब बेरहमी से लूटने की हो रही तैयारी

गढ़चिरौली एयरपोर्ट के लिए जमीन अधिग्रहण के विरोध में धरना देते किसान

जयदीप हार्दीकर

माओवाद के खात्मे के साथ गढ़चिरौली में बंदूकें तो शांत हो गई हैं, लेकिन जंगलों, जमीन और खनिज के भविष्य को लेकर नई जंग शुरू हो रही है। इस महीने पूरे तीन दिनों तक महाराष्ट्र के गढ़चिरौली जिले में चामोर्शी के पास हजारों आदिवासी किसान विरोध प्रदर्शन पर बैठे रहे। उनकी मांग थीः हमारी जमीन का अधिग्रहण बंद करो।

बीती 12 मई को राज्य सरकार ने एक हवाई अड्डे के लिए चार गांवों की 311 हेक्टेयर से अधिक जमीन के अधिग्रहण को मंजूरी दी और ग्रामीणों के लिए मुआवजे के रूप में लगभग 77 करोड़ रुपये स्वीकृत किए। इसी बीच, महाराष्ट्र औद्योगिक विकास निगम (एमआईडीसी) चामोर्शी तहसील के 14 गांवों की करीब 3,000 हेक्टेयर जमीन अधिग्रहित करने की प्रक्रिया में है, ताकि जेएसडब्ल्यू समूह के प्रस्तावित 1 लाख करोड़ रुपये के स्टील प्लांट के लिए रास्ता साफ हो सके।

भूमि अधिग्रहण की इन हालिया घोषणाओं के पीछे बहुत बड़ी योजना छिपी है। राज्य के इस अछूते दक्षिण-पूर्वी कोने में खनन, बुनियादी ढांचे, इस्पात निर्माण और अन्य औद्योगिक परियोजनाओं के लिए हजारों हेक्टेयर वन और कृषि भूमि को निगलने की तैयारी है। बढ़ते विरोध को देखते हुए सरकार ने फिलहाल कुछ नियोजित अधिग्रहणों को ठंडे बस्ते में डाल दिया है, लेकिन प्रदर्शनकारी अपने अनुभवों से जानते हैं कि यह अर्द्धविराम है, पूर्णविराम नहीं।

इस साल के शुरू में राज्य विधानमंडल के बजट सत्र के दौरान मुख्यमंत्री देवेंद्र फडणवीस ने घोषणा की थी कि गढ़चिरौली को स्टील हब में बदला जाएगा। उन्होंने 2.6 लाख करोड़ रुपये से अधिक के निवेश और 70,000 नौकरियों का वादा किया। लंबे समय तक माओवादी उग्रवाद से जुड़े रहे इस जिले को अब राज्य के अगले बड़े औद्योगिक केन्द्र के रूप में ढाला जा रहा है। नीति-निर्धारकों के लिए शायद यह बात कोई मायने नहीं रखती कि इस भव्य महत्वाकांक्षा की वेदी पर हजारों एकड़ प्राचीन जंगल, बारहमासी नदियां और वनों पर आधारित आजीविका तबाह हो जाएगी। इन जंगलों के नीचे दबा लौह अयस्क का भंडार स्टील प्लांटों, लॉजिस्टिक्स कॉरिडोर और नई विनिर्माण अर्थव्यवस्था को रफ्तार देगा। मौजूदा सत्ता के करीबी कॉरपोरेट्स की नजरें काफी समय से इन भंडारों पर हैं।

सड़कों के निर्माण कार्य पर नजर डालें तो साफ पता चलता है कि सरकार पूर्वी तट के बंदरगाहों को पश्चिमी तट से जोड़ना चाहती है। राज्य और केन्द्र की भाजपा-गठबंधन सरकारें इसे विकास की एक ऐसी कहानी के रूप में पेश कर रही हैं, जो आखिरकार महाराष्ट्र के सबसे उपेक्षित क्षेत्रों में पहुंच रही है। लेकिन स्थानीय निवासी, आदिवासी अधिकार कार्यकर्ता और पर्यावरणविद इसके चलते अपनी पारिस्थितिकी, अर्थव्यवस्था और संस्कृति पर संभावित विनाशकारी परिणामों को साफ देख रहे हैं।

यह कहानी सिर्फ गढ़चिरौली की नहीं। मध्य भारत के बड़े हिस्से में इसी पटकथा को अलग-अलग रूप में दोहराया जा रहा है। बस्तर, पश्चिमी ओडिशा के खनिज समृद्ध जिलों और छत्तीसगढ़, झारखंड और महाराष्ट्र तक फैले जंगलों में माओवादी प्रभाव के घटने से खनन और औद्योगिक परियोजनाओं के लिए जमीन के बड़े-बड़े टुकड़े दिए जा रहे हैं। दशकों तक सुरक्षा चिंताओं और राजनीतिक अस्थिरता ने कॉरपोरेट जगत को इन हिस्सों में समृद्ध खनिज भंडारों तक पहुंचने से रोके रखा था। लेकिन अब जब उग्रवाद को शांत कर दिया गया है और माओवाद की वे बाधाएं टूट रही हैं, तो खनिज दोहन की वह दबी भूख खुलकर सामने आ रही है।

इस बदलाव का सबसे सटीक उदाहरण शायद गढ़चिरौली ही है। यह महाराष्ट्र के सबसे घने जंगलों वाले जिलों में से एक है, जिसके लगभग 76 फीसद हिस्से पर वन है। इन जंगलों के नीचे, विशेष रूप से मध्य गढ़चिरौली की पवित्र 'सुरजागढ़ पहाड़ियों' के आसपास, लौह अयस्क का भारी भंडार है। इस क्षेत्र में खनन पर सालों चर्चा हुई, लेकिन स्थानीय विरोध, कानूनी विवादों और माओवादी गतिविधियों के कारण बात आगे नहीं बढ़ पाई। आज इस सुदूर इलाके के बड़े हिस्से में खनन गतिविधियों का बुखार, ट्रकों की अंतहीन आवाजाही, सुरक्षा बलों की भारी तैनाती और नए बुनियादी ढांचे का विस्तार साफ देखा जा सकता है। इसके साथ ही, कभी बेहद शांत रहे इस आदिवासी इलाके में गैर-आदिवासी प्रवासियों की एक बड़ी आमद शुरू हो चुकी है।

सरकार का नजरिया बिल्कुल साफ है। जंगलों से लौह अयस्क निकाला जाएगा, जबकि स्टील और उससे जुड़े उद्योग जंगलों के बाहर स्थापित किए जाएंगे। सड़कें, रेल लिंक, प्रस्तावित हवाई अड्डा, औद्योगिक क्षेत्र और लॉजिस्टिक्स बुनियादी ढांचा इन खदानों को प्रसंस्करण केन्द्रों और बाजारों से जोड़ेंगे। अधिकारी दलील देते हैं कि इस नए मैन्युफैक्चरिंग ढांचे से रोजगार पैदा होगा, स्थानीय आय बढ़ेगी और गढ़चिरौली मुख्यधारा की अर्थव्यवस्था से जुड़ जाएगा। लेकिन यह दृष्टिकोण जमीन छीनने से पैदा होने वाले गंभीर संकटों को बड़ी चालाकी से छुपा लेता है।

इस अधिग्रहण के लिए संभवतः उस पुरानी चाल का सहारा लिया जाएगा, जिसके तहत इन वन भूमियों के कुछ हिस्सों को 'बंजर भूमि' घोषित कर दिया जाता है, जिससे सामुदायिक वन अधिकारों को मनमाने ढंग से सीमित या खारिज किया जा सके। यह अधिग्रहण 'पंचायत (अनुसूचित क्षेत्रों तक विस्तार) अधिनियम, 1996' (पेसा) की लोकतांत्रिक सहमति और ढांचे की खुलेआम धज्जियां उड़ाएगा, लेकिन वर्तमान शासन के लिए यह कोई बड़ी बाधा नहीं है। पर्यावरण समूहों ने बार-बार चेतावनी दी है कि सुरजागढ़ और उसके आसपास खनन से उस संवेदनशील वन्यजीव परिदृश्य को खतरा है जो महाराष्ट्र और छत्तीसगढ़ के जंगलों को जोड़ता है। 'ताडोबा-इंद्रावती कॉरिडोर', जो संरक्षित क्षेत्रों के बीच बाघों की आवाजाही को सुगम बनाता है, इसी क्षेत्र के कुछ हिस्सों से होकर गुजरता है। यहां तक कि राष्ट्रीय बाघ संरक्षण प्राधिकरण ने भी इन मंजूरियों पर सवाल उठाए हैं, लेकिन सब बेअसर! सभी चेतावनियों को अनसुना कर दिया गया है।

गढ़चिरौली पारिस्थितिक रूप से बेहद संवेदनशील और सामाजिक रूप से नाजुक जिला है। चार दशकों के उस खूनी संघर्ष की छाया से उबरने के बाद जिसमें हजारों जानें गईं, इस क्षेत्र को 'संभलने का समय' देना जरूरी था। लेकिन विकास के नाम पर जमीन हड़पने की यह अंधी दौड़ ऐसी किसी भी संवेदनशीलता को कोई जगह नहीं देने वाली।

> सालों तक गढ़चिरौली भारत सरकार और माओवादी विद्रोहियों में संघर्ष का प्रतीक बना रहा। वह संघर्ष भले खत्म हो रहा हो, लेकिन टकराव आज भी जिंदा है। बंदूकें भले खामोश हों, जंगलों पर किसका नियंत्रण होगा, इसकी असली लड़ाई शायद अब शुरू हुई है

उन आदिवासी आबादियों का क्या होगा जिन्हें ये परियोजनाएं हमेशा के लिए विस्थापित कर देंगी? उस 'टाइगर कॉरिडोर' का क्या होगा जिसे टुकड़ों में बांटकर हमेशा के लिए बर्बाद कर दिया जाएगा? क्या इसे कभी बहाल किया जा सकेगा?

गढ़चिरौली के आदिवासी इलाकों से गोवा तक प्रस्तावित 'शक्तिपीठ एक्सप्रेसवे' इस बड़े बदलाव के पैमाने को साफ दिखाता है। सरकार और उसके बाहर के पैरोकार इसे एक महत्वपूर्ण बुनियादी ढांचा परियोजना के रूप में देखते हैं जो क्षेत्रों को जोड़ेगी और आर्थिक विकास को गति देगी। लेकिन इस आकर्षक प्रचार से इतर, यह वास्तव में खनिजों, औद्योगिक सामानों और पूंजी की तेज आवाजाही के लिए तैयार किया गया एक 'कन्वेयर बेल्ट' है। इसे भारत की उस विशाल 'दोहन अर्थव्यवस्था' की मुख्य धमनी के रूप में डिजाइन किया जा रहा है, जो मध्य भारत के जंगलों से लेकर बंदरगाहों और निर्यात बाजारों तक फैली है।

गढ़चिरौली में सामने आ रही यह कहानी खुद गढ़चिरौली से कहीं ज्यादा बड़ी है। सालों तक यह जिला भारतीय सरकार और माओवादी विद्रोहियों के बीच संघर्ष का प्रतीक बना रहा। वह संघर्ष भले ही खत्म हो रहा हो, लेकिन जमीन, जंगलों और भविष्य के अलग-अलग दृष्टिकोणों को लेकर टकराव आज भी जिंदा है। बंदूकें भले खामोश हो गई हों, लेकिन जंगलों पर किसका नियंत्रण होगा, इसकी असली लड़ाई शायद अब शुरू हुई है। ■

फोटो: के.ए. शाजी

सुप्रीम कोर्ट के संतुलनकारी जलाशय परियोजना के खिलाफ तमिलनाडु की रिव्यू पिटीशन पर विचार से इनकार के बाद कावेरी नदी विवाद और गहरा गया है

मेकेदातू पर महासंग्राम

यह सिर्फ एक बांध को लेकर उपजा विवाद नहीं, बल्कि बढ़ते पर्यावरण संकट के दौर में भारत की नदियों के प्रबंधन पर छिड़ी बड़ी बहस है

के.ए. शाजी

मेकेदातू में 'संतुलनकारी जलाशय परियोजना' के प्रस्ताव पर कर्नाटका और तमिलनाडु में फिर शुरू हुआ टकराव कावेरी नदी विवाद की नई कड़ी भर नहीं है। यह ऐसा गंभीर संघर्ष है, जो जलवायु परिवर्तन, अंधाधुंध शहरीकरण और सिकुड़ते प्राकृतिक संसाधनों के इस दौर में भारत के सामने खड़ी चुनौतियों को बयां करता है।

पूरे विवाद के केन्द्र में एक बुनियादी सवाल हैः नदी पर पहला अधिकार किसका? ऊपरी राज्य का, जो अपनी तेजी से फैलती महानगरीय आबादी के लिए पीने के पानी की सुरक्षा चाहता है? या निचले हिस्से के उन समुदायों का, जिनकी खेती-किसानी, आजीविका और अस्तित्व नदी के निर्बाध प्रवाह पर टिके हैं?

ताजा चिंगारी तब भड़की जब सुप्रीम कोर्ट ने परियोजना के खिलाफ तमिलनाडु की रिव्यू पिटीशन पर विचार से इनकार कर दिया। इससे कर्नाटका के हौसले बुलंद हुए और उसने फिर से पर्यावरण और प्रशासनिक मंजूरियों के लिए दबाव बनाना शुरू कर दिया। दूसरी ओर, तमिलनाडु को डर है कि मेकेदातू बांध बनने से पानी के बंटवारे पर दशकों की कानूनी लड़ाई के बाद जो नाजुक संतुलन बना था, वह बिगड़ जाएगा।

प्यासा शहर और पतली घाटी

तीन दशकों में बेंगलुरु का इतना तेज विस्तार हुआ कि प्राकृतिक संसाधन क्षमता पीछे छूट गई। रियल एस्टेट प्रोजेक्ट्स के चक्कर में झीलें गायब हो गईं, दलदली इलाकों पर कब्जे हो गए और भूजल का दोहन डरावने स्तर पर पहुंच गया। नतीजा, पानी के टैंकर जीवनरेखा बन गए, बोरवेल सूख गए और रिहायशी सोसायटियों को पानी के इस्तेमाल पर सख्त पाबंदियां लगानी पड़ीं। विशेषज्ञों ने साफ कहा कि यह संकट झीलों, वेटलैंड्स और भूजल को रिचार्ज करने वाले सिस्टम की दशकों तक की गई अनदेखी का नतीजा है।

इस पृष्ठभूमि का हवाला देते हुए कर्नाटका सरकार का तर्क है कि बेंगलुरु को बचाने के लिए मेकेदातू परियोजना बेहद जरूरी है। बेंगलुरु से करीब 90 किलोमीटर दक्षिण में स्थित मेकेदातू बेहद खूबसूरत घाटी है, जहां पथरीली चट्टानों से गुजरते हुए कावेरी नदी तमिलनाडु में प्रवेश से पहले बेहद संकरी हो जाती है। कन्नड़ में मेकेदातू का अर्थ है 'बकरी की छलांग'।

यहां प्रस्तावित जलाशय में लगभग 67 टीएमसीएफटी पानी जमा करने और 400 मेगावाट बिजली पैदा करने का लक्ष्य है। कर्नाटका का कहना है कि बेंगलुरु और उसके पड़ोसी कनकपुरा की पेयजल जरूरतों को पूरा करने के लिए इसमें से सालाना करीब 4.5 टीएमसीएफटी पानी लिया जाएगा। राज्य के अधिकारियों का दावा है कि यह परियोजना कावेरी पानी के उसी हिस्से के अंतर्गत आती है जो कर्नाटका को आवंटित किया गया है, इसलिए यह किसी भी ट्रिब्यूनल के फैसले या सुप्रीम कोर्ट के आदेश का उल्लंघन नहीं करती। राज्य का यह भी तर्क है कि इस जलाशय से आसपास का भूजल रिचार्ज होगा, सूखे में पानी की उपलब्धता बढ़ेगी और पानी की भारी किल्लत से जूझ रहे शहर के लिए पीने के पानी की सुरक्षा तय हो सकेगी।

कर्नाटका के लोगों, खासकर उद्योगजगत और शहरी निवासियों के लिए यह परियोजना वक्त की जरूरत है। लेकिन इसी परियोजना को नदी के बहाव की दिशा में 300 किलोमीटर नीचे (डाउनस्ट्रीम) बिल्कुल अलग नजरिये से देखा जाता है।

डेल्टा क्षेत्र का डर

तमिलनाडु के डेल्टा जिलों-तंजावुर, तिरुवरूर, नागपट्टिनम और तिरुचिरापल्ली में कावेरी नदी ही खेती-किसानी की रीढ़ है। यहां धान के खेत ऊपरी राज्यों के जलाशयों से छोड़े जाने वाले पानी पर निर्भर हैं। इस डेल्टा के किसान असमय मानसून और राज्यों के विवादों के कारण पहले ही सालों से अनिश्चितता झेल रहे हैं। उन्हें डर है कि मेकेदातू बांध बनने के बाद पानी छोड़ने के समय और मात्रा पर ऊपरी राज्य (कर्नाटका) का नियंत्रण बहुत बढ़ जाएगा। तमिलनाडु के कावेरी प्रबंधन तंत्र से जुड़े अधिकारी भी इस डर को सही मानते हैं। किसान संगठनों का कहना है कि पानी की सप्लाई में थोड़ी देर या रुकावट भी राज्य के इस कृषि क्षेत्र को तबाह कर सकती है।

मेकेदातू परियोजना 'कावेरी वन्यजीव अभयारण्य' में आती है, जो दक्षिण भारत के सबसे महत्वपूर्ण वन पारिस्थितिकी प्रणालियों में है। वन अधिकारियों के मुताबिक, यह इलाका कई संवेदनशील और लुप्तप्राय प्रजातियों का घर है।

अगर यह परियोजना लागू हुई तो इस अभयारण्य का करीब 7,862 एकड़ हिस्सा और उससे सटे आरक्षित वनों का 4,619 एकड़ इलाका डूब जाएगा। यानी कुल मिलाकर 12,000 एकड़ से अधिक पारिस्थितिकी रूप से संवेदनशील वन भूमि जलमग्न हो जाएगी।

यह अभयारण्य पूर्वी और पश्चिमी घाट को जोड़ने वाले कॉरिडोर का काम करता है, जो बिलीगिरी रंगनाथ पहाड़ियों और माले महादेश्वर पहाड़ियों के जंगलों को जोड़ता है। वनों के इस विनाश और वन्यजीवों के प्रवासन रास्तों के बंद होने के दुष्परिणाम इस परियोजना क्षेत्र से कहीं आगे तक देखने को मिलेंगे। संरक्षण जीवविज्ञानी संजय गुब्बी बताते हैं कि यह अभयारण्य हाथियों और बाघों के लिए सुरक्षित है, जिससे मानव-पशु संघर्ष को कम करने में मदद मिलती है।

परियोजना के निर्माण के लिए बड़े पैमाने पर विस्फोट, खुदाई और निर्माण सामग्री के खनन की जरूरत होगी। इन गतिविधियों का स्थानीय पर्यावरण पर इतना गहरा और दीर्घकालिक असर पड़ेगा कि जलाशय के भरने से पहले ही वहां का ताना-बाना बिखर जाएगा।

पर्यावरणीय विरोधाभास

इस प्रस्ताव की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि इसमें एक पर्यावरणीय संकट (पानी की कमी) को हल करने के लिए दूसरे पर्यावरणीय संकट (जंगलों का विनाश) को जन्म दिया जा रहा है। बेंगलुरु का जल संकट दोषपूर्ण शहरी प्लानिंग का नतीजा है। इसके पास कभी झीलों और तालाबों का बेहतरीन ताना-बाना था जो वर्षाजल को सहेजता और भूजल स्तर को बनाए रखता था। आज उस नेटवर्क का बड़ा हिस्सा गायब हो चुका है या बुरी तरह प्रदूषित है।

पर्यावरण संगठनों का कहना है कि बेंगलुरु आज भी ट्रीटेड पानी की बड़ी मात्रा लीकेज के कारण गंवा रहा है। रेन वॉटर हार्वेस्टिंग का काम अब भी आधा-अधूरा है, इस्तेमाल पानी की रिसाइकिल क्षमता बहुत कम है, और विशेषज्ञों की चेतावनियों के बावजूद झीलों और वेटलैंड्स के जीर्णोद्धार का काम बेहद सुस्त। माना जाता है कि विशेषज्ञ मूल्यांकन समिति ने भी इसके पर्यावरणीय प्रभावों और अन्य विकल्पों को लेकर चिंताएं जताई थीं, लेकिन उन नतीजों को कभी भी पूरी तरह सार्वजनिक नहीं किया गया।

यदि यह जलाशय हकीकत बनता है, तो कई आदिवासी बस्तियों और जंगलों पर निर्भर समुदायों को विस्थापित होना पड़ेगा। इसके अलावा, पर्यटन पर टिकी आजीविका भी प्रभावित होगी। कर्नाटका के सबसे लोकप्रिय इको-टूरिज्म स्थलों में से एक 'संगमा' डूब जाएगा।

जलवायु परिवर्तन की चुनौती

बड़े जलाशयों के निर्माण को हमेशा इस तर्क से सही ठहराया जाता है कि नदियों में पानी का बहाव काफी हद तक अनुमान के मुताबिक रहता है। लेकिन जलवायु परिवर्तन ने इस तर्क को खारिज कर दिया है। आज कर्नाटका और तमिलनाडु दोनों ही राज्य मानसून की भारी अनिश्चितता झेल रहे हैं। कावेरी बेसिन में कभी भीषण सूखा, तो कभी भारी बारिश आम हो चुके हैं। जल नीति विश्लेषकों का मानना है कि इस अनिश्चितता में बड़े बांधों पर हजारों करोड़ खर्चने में समझदारी नहीं। इसके बजाय, असली जल सुरक्षा पर्यावरण जीर्णोद्धार, पानी के इस्तेमाल में कुशलता लाने और उसकी मांग के सही प्रबंधन से ही संभव हो सकती है।

> जल चक्र में बढ़ते बदलावों और अनिश्चितता के इस दौर में बड़े बांधों और जलाशयों के निर्माण पर हजारों करोड़ रुपये खर्च करने को प्रभावी नहीं माना जा सकता

नदी प्रबंधन का संकट

मेकेदातू विवाद भारत में नदियों के शासन और प्रबंधन की कमियों को उजागर करता है। नदियां किसी राजनीतिक सीमा या राज्यों के नक्शों को नहीं पहचानतीं, इसके बावजूद भारत में जल प्रबंधन आज भी काफी हद तक राज्यों के अपने राजनीतिक हितों से तय होता है। जैसे-जैसे पानी की किल्लत बढ़ेगी, राज्यों के बीच ऐसे विवाद बढ़ेंगे और कहीं आक्रामक होंगे। कावेरी विवाद पहले ही दशकों लंबी कानूनी लड़ाइयों, विरोध प्रदर्शनों और राजनीतिक आंदोलनों को जन्म दे चुका है। मेकेदातू का यह मुद्दा एक और लंबा और विवादित अध्याय जोड़ने की कगार पर खड़ा है।

भारत के पास नदी-बेसिन प्रबंधन का कोई मजबूत और स्वतंत्र तंत्र नहीं है जो एक ही ढांचे में पर्यावरण की चिंताओं, जलवायु के जोखिमों, शहरों की जरूरतों और निचले इलाकों के अधिकारों के बीच संतुलन बना सके। नतीजा यह होता है कि पूरी बहस सिर्फ पानी के बंटवारे के दावों और खींचतान तक सिमट जाती है।

इसमें शक नहीं कि बेंगलुरु को जल सुरक्षा चाहिए। तमिलनाडु के किसानों को भी सिंचाई का निश्चित पानी चाहिए। साथ ही कावेरी वन्यजीव अभयारण्य को सुरक्षा चाहिए और जलवायु परिवर्तन की चेतावनियों को भी नजरअंदाज नहीं कर सकते।

इन विरोधाभासी और परस्पर जुड़ी वास्तविकताओं में तालमेल बिठाने के लिए एक नई दूरदर्शी सोच, आपसी सहयोग और उस पारंपरिक राजनीति से ऊपर उठने की इच्छाशक्ति की जरूरत है, जिसने लंबे समय से अंतर-राज्यीय नदी विवादों को जकड़ रखा है। ■

के.ए. शाजी जाने-माने लेखक और पर्यावरण मामलों के विश्लेषक हैं

ईएसआईसी का निजीकरण समाधान नहीं

श्रमिकों के लिए तैयार की गई इकलौती स्वास्थ्य सेवा प्रणाली की दिक्कतें हैं, लेकिन उन्हें कॉरपोरेट अस्पतालों के हवाले किया जाना ठीक नहीं

अजित रानाडे

सैंपल रजिस्ट्रेशन सिस्टम (एसआरएस) के ताजा आंकड़े नीति-निर्धारकों की पेशानी पर बल डालने वाले हैं। साल 2024 में देश में दर्ज कुल मौतों में करीब आधी ऐसी थीं, जहां दम तोड़ने वाले को किसी प्रशिक्षित पेशेवर की चिकित्सकीय देखरेख हासिल नहीं हुई। 2020 में यह आंकड़ा 18 फीसद था। गांवों में यह अनुपात और अधिक रहा, जबकि बिहार जैसे राज्यों में यह आंकड़ा करीब दो-तिहाई के स्तर पर पहुंच गया। ये महज मृत्यु के आंकड़े नहीं, बल्कि पैमाना हैं कि आम भारतीयों की पहुंच से औपचारिक स्वास्थ्य सेवाएं आज भी कितनी दूर हैं।

इसी पृष्ठभूमि में हमें कर्मचारी राज्य बीमा निगम यानी 'ईएसआईसी' की समीक्षा करनी होगी। बेशक अरसे से इसमें सुधार लंबित है, लेकिन इसका मतलब निजीकरण, आउटसोर्सिंग या सामाजिक सुरक्षा की एक बेहतरीन संस्था को निजी बीमा कंपनियों और कॉरपोरेट अस्पतालों के हवाले कर देना नहीं होना चाहिए।

ईएसआईसी को अक्सर महज स्वास्थ्य बीमा योजना समझा जाता है। हकीकत में यह उससे कहीं ज्यादा है। यह औपचारिक अर्थव्यवस्था में काम करने वाले कम आय वाले श्रमिकों की सामाजिक बीमा प्रणाली है, जो इलाज के साथ-साथ आय सुरक्षा भी सुनिश्चित करती है। इसमें बीमारी, मातृत्व, दिव्यांगता, कार्यस्थल पर दुर्घटना, आश्रितों को लाभ, बेरोजगारी सहायता और स्थायी दिव्यांगता की स्थिति में जीवनभर पेंशन शामिल है। 15,000 रुपये प्रति माह कमाने वाले श्रमिक के लिए, नियोक्ता (मालिक) और कर्मचारी को मिलाकर कुल वार्षिक अंशदान लगभग 7,200 रुपये होता है। इतनी कम रकम में श्रमिक और उसके पूरे परिवार को बिना किसी ऊपरी वित्तीय सीमा इलाज की सुविधा और नकद लाभ भी मिलते हैं जो कोई भी साधारण निजी बीमा उत्पाद नहीं दे सकता।

यह मामला न केवल सामाजिक न्याय, बल्कि औद्योगिक भविष्य के लिए भी अहम है। भारत दुनिया की सबसे बड़ी विनिर्माण (मैन्युफैक्चरिंग) अर्थव्यवस्थाओं में है, फिर भी यहां कार्यस्थल की दुर्घटनाओं की न तो पूरी रिपोर्टिंग होती है और न उनपर पर्याप्त ध्यान दिया जाता है। एक पूरी तरह सक्रिय ईएसआईसी प्रणाली त्वरित इलाज, वेतन मुआवजे, पुनर्वास और दिव्यांगता सहायता के जरिये घायल श्रमिकों को गरीबी के दुष्चक्र में फंसने से बचाती है। श्रमिक का स्वास्थ्य ही देश की उत्पादक पूंजी है। इसलिए, ईएसआईसी में सुधार महज एक कल्याणकारी सुधार नहीं; यह उत्पादकता से जुड़ा सुधार है जिसे औद्योगिक विकास को बनाए रखने के लिए अनिवार्य माना जाना चाहिए।

ईएसआईसी में करीब 3.84 करोड़ बीमित व्यक्ति हैं और उनके परिवारों को मिला लें तो यह संख्या 14.91 करोड़ लाभार्थियों तक पहुंच जाती है-यानी भारत की कुल आबादी का दसवां हिस्सा! इसके पास अस्पतालों का एक विशाल नेटवर्क, मेडिकल कॉलेज, बेशकीमती जमीनें और 1 लाख करोड़ रुपये से अधिक का आरक्षित कोष है। किसी भी पैमाने पर देखें, तो यह भारत की सबसे कम उपयोग की जाने वाली सार्वजनिक सामाजिक बुनियादी ढांचा संपत्तियों में से एक है।

इसके वैचारिक इतिहास को याद करना भी प्रासंगिक है। ब्रिटेन की राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा की शुरुआत सामाजिक सुरक्षा के 'बेवरेज विजन' से हुई। भारत में, प्रोफेसर बी.पी. अदलकर ने 1940 के दशक में औद्योगिक श्रमिकों के लिए बिल्कुल ऐसा ही ढांचा तैयार किया। 1948 का ईएसआई अधिनियम उसी दूरदर्शी सोच की देन था। एनएचएस आगे चलकर दुनिया भर में सम्मानित सार्वजनिक संस्थान बना (हालांकि वर्तमान में वह बजटीय कटौती और कर्मचारियों की कमी जैसी गंभीर चुनौतियों से जूझ रहा है)। यह सच है कि ईएसआईसी लंबे समय से उपेक्षा, कमजोर प्रशासन और खराब उपभोक्ता अनुभव का शिकार रहा है। लेकिन यह क्रियान्वयन की विफलता है, सिद्धांतों की नहीं।

इसकी कमियां वास्तविक हैं। श्रमिक अक्सर लंबी लाइनों, सूचना के अभाव, दवाओं की किल्लत, रेफरल में देरी, कर्मचारियों के उदासीन रवैये और नकद लाभ मिलने में हफ्तों विलंब की शिकायत करते हैं। हरियाणा और महाराष्ट्र में घायल श्रमिकों के साथ काम करने वाले 'सेफ इन इंडिया' (एसआईआई) फाउंडेशन के जमीनी अनुभव बताते हैं कि समस्या कितनी गंभीर है। संस्था ने जिन 8,000 से अधिक घायल श्रमिकों की मदद की, उनमें से 73 फीसद को अस्थायी दिव्यांगता लाभ के लिए छह महीने से ज्यादा इंतजार करना पड़ा। मानेसर में कई श्रमिकों को अल्ट्रासाउंड जैसे बुनियादी टेस्ट भी अपने पैसे खर्च से निजी केन्द्रों से कराने पड़े।

कर्मचारी राज्य बीमा निगम जो इलाज के साथ-साथ आय सुरक्षा भी सुनिश्चित करता है

लेकिन इसके लिए ईएसआईसी को सरेंडर करने के बजाय उसे 'रिपेयर' करने की जरूरत है। कम मजदूरी पाने वाले श्रमिकों के लिए यह 'विकल्प' अक्सर एक छलावा होता है। कई श्रमिक प्रवासी हैं, जो छोटे अनुबंधों पर काम करते हैं, उनके पास जानकारी का अभाव है और वे पंजीकरण के लिए पूरी तरह नियोक्ताओं पर निर्भर हैं। 'सेफ इन इंडिया' का अनुभव बताता है कि मदद पाने वाले घायल श्रमिकों में से 16 फीसद का पंजीकरण दुर्घटना होने के बाद किया गया, और 64 फीसद को ईएसआई कार्ड चोट लगने के बाद मिला। जब अनिवार्य पंजीकरण ही ठीक से लागू नहीं किया जा पा रहा है, तो महज 'विकल्प' दे देने से श्रमिकों का भला नहीं होने वाला।

इसके अलावा, निजी बीमा कंपनियां कभी भी ईएसआईसी के व्यापक लाभों की बराबरी नहीं कर सकतीं। 5 लाख रुपये का एक निजी फैमिली फ्लोटर प्लान सालाना 15,000 से 30,000 रुपये का पड़ेगा, और उसमें भी केवल अस्पताल में भर्ती होने का खर्च (वह भी कई शर्तों, वेटिंग पीरियड और सब-लिमिट के साथ) कवर होगा। उसमें ओपीडी, वेतन नुकसान, मातृत्व अवकाश में वेतन भरपाई, दिव्यांगता पेंशन या काम के दौरान होने वाली बीमारियों के लिए कोई जगह नहीं होती। 28 साल की उम्र में दिव्यांग हुए श्रमिक को 40 साल तक वित्तीय सहारे की जरूरत हो सकती है। सिलिकोसिस जैसी बीमारी काम के माहौल के संपर्क में आने के दशकों बाद उभर सकती है। निजी बीमाकर्ता कंपनियां इन जोखिमों को कभी भी किफायती प्रीमियम पर उठाने को तैयार नहीं होंगी। इसके लिए एक वैधानिक, अनिवार्य और सामूहिक प्रणाली की ही जरूरत है।

> 28 साल की उम्र में दिव्यांग श्रमिक को 40 सालों तक सहारे की जरूरत हो सकती है। सिलिकोसिस जैसी बीमारी कार्यस्थल पर प्रदूषण के संपर्क में आने के दशकों बाद सामने आ सकती है। बीमा कंपनियां कभी भी किफायती प्रीमियम पर इन्हें कवर नहीं करेंगी

सुधार का एजेंडा व्यावहारिक होना चाहिए। पहला, श्रमिकों से जुड़ी हर प्रक्रिया सरल हो। दुर्घटना की रिपोर्टिंग, क्लेम, रेफरल, दिव्यांगता का आकलन और लाभों की ट्रैकिंग को फाइलों के बजाय श्रमिक को केंद्र में रखकर दोबारा तैयार किया जाए। दूसरा, सेवा के कड़े मानक तय कर उन्हें सार्वजनिक किया जाए, जैसे-दावे से लेकर भुगतान की समय-सीमा, दवा उपलब्धता, प्रतीक्षा समय और रेफरल की अवधि। तीसरा, हर बड़े औद्योगिक क्लस्टर में प्राथमिक उपचार को मजबूत किया जाए ताकि श्रमिक हताश होकर व्यवस्था से बाहर न भागें। चौथा, मानव संसाधन की कमी दूर हो; जहां श्रमिक वास्तव में रहते और काम करते हैं, वहां डॉक्टर, विशेषज्ञ, नर्स और अस्पताल प्रबंधक उपलब्ध हों। पांचवां, अपॉइंटमेंट, हेल्थ रिकॉर्ड और टेलीमेडिसिन के लिए डिजिटल टूल्स का इस्तेमाल हो, बशर्ते डिजिटल साक्षरता श्रमिकों के लिए कोई नई बाधा न बने।

प्रशासनिक सुधार भी महत्वपूर्ण है। ईएसआईसी को श्रमिकों और नियोक्ताओं (विशेषकर एमएसएमई) के प्रति अधिक जवाबदेह बनना होगा। इसके बोर्ड और राज्य निकायों में अनुबंध (कॉन्ट्रैक्ट) श्रमिकों सहित आम मजदूरों, नियोक्ताओं, सरकार और स्वतंत्र स्वास्थ्य विशेषज्ञों का मजबूत प्रतिनिधित्व होना चाहिए। मजदूरी की ऊपरी सीमा में भी संशोधन की जरूरत है। इसे बढ़ाना चाहिए और समय-समय पर महंगाई के साथ जोड़ा जाना चाहिए। इसका दायरा धीरे-धीरे निर्माण कार्य में लगे मजदूरों, गिग और प्लेटफॉर्म वर्कर्स तक बढ़ाया जाना चाहिए। ईएसआईसी का फंड कहीं और डायवर्ट नहीं किया जाना चाहिए। ईएसआईसी की अपनी एक खास भूमिका है। यह महज अस्पताल में भर्ती होने की कोई साधारण योजना नहीं। यह स्वास्थ्य देखभाल को कार्यस्थल की चोट, वेतन हानि, मातृत्व सुरक्षा, दिव्यांगता पेंशन और व्यावसायिक बीमारियों की ट्रैकिंग से जोड़ता है। इस संस्थागत क्षमता को बनाने में दशकों का समय लगा है, इसे यूं ही खारिज नहीं किया जा सकता।

भारत का स्वास्थ्य सेवा संकट सार्वजनिक व्यवस्था की अधिकता के कारण नहीं है। यह प्रभावी सार्वजनिक व्यवस्था की भारी कमी के कारण है। जब देश में करीब आधी मौतें बिना किसी प्रशिक्षित चिकित्सकीय देखरेख के हो रही हों, तो इसका समाधान श्रमिकों को उनके लिए बनी एकमात्र वैधानिक प्रणाली से वंचित करना कतई नहीं हो सकता। समाधान सिर्फ एक है-इस व्यवस्था को दुरुस्त करना। इसका पेशेवर प्रबंधन कीजिए और इसमें पारदर्शिता लाइये। जहां जरूरी हो वहां निजी क्षेत्र की विशेषज्ञता का इस्तेमाल जरूर करें, लेकिन शर्तें ईएसआईसी की होनी चाहिए। इस योजना के सार्वजनिक चरित्र को हर हाल में बचाए रखा जाना चाहिए। एक पुनर्जीवित और सशक्त ईएसआईसी भारत में व्यापक सामाजिक स्वास्थ्य सुरक्षा के लिए एक रोल मॉडल बन सकता है। ■

अजित रानाडे जाने-माने अर्थशास्त्री हैं।
साभार: द बिलियन प्रेस

भारत को क्या मिला मोदी के 12 साल में?

यह मत पूछिए कि कौन से रिकॉर्ड तोड़े। यह पूछिए कि इतिहास उन्हें कैसे याद रखेगा

आकार पटेल

मित्रों, राम माधव ने अभी हाल ही में एक लेख में प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के एक अहम पड़ाव पर पहुंचने की बात लिखी है। उन्होंने लिखा है कि इस साल 10 जून को मोदी प्रधानमंत्री के तौर पर लगातार 4,399 दिन पूरे कर रहे हैं, और इस तरह वह जवाहरलाल नेहरू के 4,398 दिनों तक बिना किसी रुकावट के प्रधानमंत्री पद पर रहने के रिकॉर्ड को पीछे छोड़ देंगे।

'बिना रुकावट' जैसा अजीब शब्द इसलिए इस्तेमाल किया गया है क्योंकि इंदिरा गांधी लगभग 6,000 दिनों तक प्रधानमंत्री पद पर थीं। इसमें कोई शक नहीं कि मोदी समय के साथ उस आंकड़े को भी पार कर लेंगे। यहां ज्यादा दिलचस्प बात माधव का यह दावा है कि 'निस्संदेह, मोदी को भारत के सबसे असरदार और सफल प्रधानमंत्री के तौर पर याद किया जाएगा।' इसके पीछे वह कारण बताते हैं कि मोदी 'प्रधानमंत्री के तौर पर अपने तीसरे कार्यकाल के मध्य में हैं। फिर भी, भारतीय राजनीति के परिदृश्य पर उनका दबदबा बहुत ज्यादा और निर्विवाद बना हुआ है। यह तय है कि वह और भी कई रिकॉर्ड तोड़ेंगे, क्योंकि वह आने वाले कई सालों तक देश का नेतृत्व करते रहेंगे।'

हां, लंबे समय तक टिके रहना जरूरी है और कुछ लोगों के लिए क्रीज पर ज्यादा देर तक बने रहना भी अहम है। लेकिन दर्शकों के नजरिये से जो बात मायने रखती है, वह है कि स्कोरबोर्ड पर क्या दिख रहा है। यहां दिक्कत यह है कि लंबे समय तक टिके रहने के उलट, डेटा साफ नहीं है।

माधव का कहना है कि मोदी की उपलब्धियों में यह बात शामिल है कि पिछले एक दशक में भारत की जीडीपी दोगुनी हो गई। लेकिन आजादी के बाद से हर दशक में यह दोगुना होती रही है; निश्चित रूप से 1960 के बाद से तो ऐसा हुआ ही है (जब से हमारे पास वर्ल्ड बैंक का डेटा मौजूद है)। और क्या? माधव कहते हैं कि 'विदेश नीति में मोदी ने एक शानदार इतिहास रचा है।' कैसे? यह हमें नहीं पता। आज दुनिया में जो हो रहा है, उसे देखते हुए यह मानना मुश्किल है कि भारत का कोई महत्व नहीं है, और यह आरोप भी सही हो सकता है कि भारत अक्सर चापलूसी करता है, खासकर अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रंप के मामले में। हालांकि, आज हमें उस पर बात करने की जरूरत नहीं है।

सवाल यह है कि मोदी के जाने के छह दशक बाद उन्हें कैसे याद किया जाएगा। 2086 के भारत में, लोग मोदी के बारे में क्या लिखेंगे और क्या कहेंगे—ठीक वैसे ही जैसे आज, नेहरू के गुजरने के 62 साल बाद, हम उनके बारे में बात करते और लिखते हैं? मुझे इस बात की चिंता है कि हो सकता है हम (यानी जो लोग तब तक जीवित रहेंगे और जो उसके बाद पैदा होंगे) मोदी का जिक्र ही न करें। इसका एक कारण यह है कि वर्तमान चीजें, लोग और घटनाएं समय के साथ बहुत तेजी से फीकी पड़ जाती हैं। गावस्कर ने तेंदुलकर को जगह दी, जिन्होंने कोहली को जगह दी, जिन्होंने वैभव को जगह दी। वर्तमान पर हमेशा एक चमकदार नई चीज होती है और वर्तमान पीढ़ी का वर्तमान सितारों के साथ रिश्ता हमेशा अतीत की चीजों की तुलना में अधिक ताजा और गहरा होता है।

लेकिन अगर यह सच है तो नेहरू क्यों नहीं मिटे और माधव और हममें से जो इस प्रधानमंत्री के प्रशंसक हैं, वह पुराने जवाहरलाल को उनके आकाश में चले जाने के इतने समय बाद भी क्यों बार-बार सामने रख रहे हैं?

इसी से अब हम उस दूसरी वजह पर आते हैं जिसकी वजह से नेहरू आज भी हमारे बीच अपनी सोच और असर के जरिये मौजूद हैं। यह उनकी छोड़ी हुई विरासत की वजह से है। पहली विरासत है हर तरह के संस्थान - जैसे शिक्षा, विज्ञान, संस्कृति और चिकित्सा से जुड़े संस्थान - जिनकी उन्होंने कल्पना की और जिन्हें बनाया। दुनिया में, और खासकर हमारे इलाके में, ऐसी उपलब्धि बहुत कम देखने को मिलती है। नेहरू द्वारा बनाई गई बहुत सारी चीजों की तुलना मोदी द्वारा सोची और पूरी की गई चीजों से करें। मोदी के काम में ऐसी कोई चीज ढूंढना मुश्किल है। शायद बेचारा नीति आयोग (क्या वह अभी भी है?) ही वह एक चीज हो सकती है जो मोदी भविष्य के भारत को दें, लेकिन इसके अलावा और क्या? कहना मुश्किल है।

नेहरू की छोड़ी हुई दूसरी चीज, उनके बनाए संस्थानों की तरह ही, आज भी हमारे आस-पास मौजूद है और उनसे जुड़ी हुई हैः जिसे 'भारत का विचार' (आइडिया ऑफ इंडिआ) कहा जाता है। यानी एक ऐसा विविधतापूर्ण समाज जो आधुनिकता की ओर बढ़ रहा है।

यहां हम यह मान सकते हैं कि मोदी बदलाव लाए हैं और अतीत से इस तरह अलग हुए हैं जिसका असर शायद उनके द्वारा बनाई गई (या न बनाई गई) संस्थाओं से कहीं ज्यादा लंबे समय तक रहेगा। माधव अपनी बात इस निष्कर्ष के साथ खत्म करते हैं कि 'सिर्फ संख्याएं ही मोदी को दूसरों से अलग नहीं करतीं। दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र के नेता के तौर पर उन्होंने जिस तरह का शासन, वैचारिक दृष्टि और प्रभावशाली विकास का एजेंडा पेश किया है, वही उन्हें भारतीय राजनीति का चमकता सितारा बनाता है।'

लेकिन हम अपने आस-पास के भारत को देखते हैं, जिसे माधव चमकता हुआ सितारा कहते हैं, वह ऐसे कानूनों और नीतियों से घिरा है जो लोगों को बाहर रखने और सताने वाली हैं। बुलडोजर, लिंचिंग, खास तौर पर सघन समीक्षाएं वगैरह-वगैरह। बेशक, इनमें से ज्यादातर बातें नई नहीं हैं, लेकिन इनकी तीव्रता नई है और यह भारत को मोदी की देन है।

यह पक्का नहीं है कि हमने जो अनुभव किया है, वह 2086 तक चलेगा या नहीं। तो ऐसी ही करनी चाहिए कि ऐसा न हो, लेकिन मेरे लिए यह बात मायने नहीं रखती, क्योंकि तब तक मैं इसे देखने के लिए जिंदा नहीं रहूंगा। मेरा अंदाज़ा—जो पिछले कुछ सालों में मोदी के छोड़े गए कामों के सबूतों पर आधारित है—यह है कि अगर यह सिलसिला एक दशक या उससे ज्यादा समय तक भी चलता रहा (छह दशक तो बहुत दूर की बात है), तो मोदी को निश्चित रूप से याद किया जाएगा, लेकिन उन वजहों से नहीं जिनकी वजह से माधव उन्हें याद करवाना चाहेंगे। ■

> असल बात यह है कि स्कोरबोर्ड पर क्या है। नेहरू द्वारा बनाई गई बहुत सारी चीजों की तुलना मोदी द्वारा सोची और पूरी की गई चीजों से करें। मोदी के काम में ऐसी कोई चीज ढूंढना मुश्किल है

आम्बेडकर को भी अप्रासंगिक बना देते हैं गुहा के आरोप

राहुल गांधी के खिलाफ इतिहासकार की दलील में ऐतिहासिक जवाबदेही और वंशानुगत अपराधबोध के आपसी घालमेल का जोखिम है

एस.एन. साहू

महात्मा गांधी ने 15 नवंबर 1947 को हिन्दू महासभा से सीधा सवाल किया था। महासभा ने आरोप लगाया था कि कांग्रेस ने अपनी आत्मा मुसलमानों के आगे गिरवी रख दी है, कि गांधी विफल हो चुके हैं और नेहरू की स्थिति भी उनसे कोई अलग नहीं, कि पटेल के अंदर का एक हिस्सा तो पक्का हिन्दू है, लेकिन आखिर वह भी तो ठहरे कांग्रेसी ही! इन आरोपों के संदर्भ में गांधी ने सवाल किया थाः 'हिन्दू महासभा में ऐसा कौन है जो कांग्रेस नेतृत्व की जगह ले सकता है?'

गांधी ने नेहरू के बारे में लिखा, 'उन्हीं की वजह से दुनिया में हमारी बहुत इज्जत है। भारत के बाहर उन्हें दुनिया के सबसे महान राजनेताओं में से एक माना जाता है। कई यूरोपियनों ने मुझसे कहा है कि दुनिया ने ऐसा ऊंचे विचारों वाला नेता नहीं देखा। मैं ऐसे अमेरिकियों को जानता हूं जो राष्ट्रपति ट्रूमैन से ज्यादा जवाहरलाल की इज्जत करते थे। भारत में हमें भी इसकी सही कद्र करनी चाहिए।'

जैसे हिन्दू महासभा ने 1947 में कांग्रेस, गांधी, नेहरू और पटेल को भारत का नेतृत्व करने के लिए अयोग्य बताया था, वैसी ही सोच राम गुहा के विश्लेषण में भी दिखती है जिसमें उन्होंने कांग्रेस और राहुल गांधी को मोदी सरकार और भाजपा का मुकाबला करने में अक्षम बताया है। गुहा ने अपने हालिया लेख 'हाउ द गांधी फैमिली हैज हेल्प्ड मोदी कंसोलिडेट पावर' (गांधी परिवार ने मोदी को सत्ता मजबूत करने में कैसे मदद की) में कांग्रेस और राहुल गांधी के खिलाफ अपने रुख के समर्थन में जो तर्क दिए हैं, वे एकदम पिलपिले हैं। क्योंकि कांग्रेस और नेहरू के संदर्भ में महात्मा गांधी की यह बात कि 'हमें भारत में इसकी कद्र करनी चाहिए', 2026 में कांग्रेस और राहुल गांधी के संदर्भ में भी लागू होती है। यह बात काफी हैरान करने वाली है कि गुहा जैसे इतिहासकार इस बात का विरोध करते हैं कि प्रियंका संविधान की 75वीं वर्षगांठ पर बोलें, सिर्फ इसलिए कि इंदिरा गांधी ने इमरजेंसी लगाई थी! किसी व्यक्ति की पहचान उसके पूर्वजों के कामों से कैसे तय की जा सकती है?

इसी तर्क से, गुहा यह भी सवाल कर सकते हैं कि भारत का संविधान बनाने में आम्बेडकर की भूमिका कैसे हो सकती है, जबकि उन्होंने गांधी के नेतृत्व में चले आजादी के आंदोलन में कभी हिस्सा नहीं लिया और गांधी की तीखी आलोचना की थी। यह सवाल भी उठ सकता है कि नेहरू ने भारत की पूर्ण स्वतंत्रता की बात ही कैसे उठाई जबकि उनके पिता मोतीलाल नेहरू- जो 'नेहरू रिपोर्ट' के लेखकों में से एक थे - ने तो हमारे देश के लिए सिर्फ 'डोमिनियन स्टेटस' (अधिराज्य के दर्जे) की मांग की थी?

सबसे पहले, इंदिरा गांधी को इमरजेंसी लगाने के उनके फैसले के लिए जिम्मेदार ठहराया गया और उन्होंने अपने फैसले के लिए माफी भी मांगी। फिर, गुहा जैसे उच्चस्तरीय शिक्षाविद का इंदिरा गांधी के किसी काम की जिम्मेदारी प्रियंका या किसी और पर डालना बेहद अजीब बात है।

उनके इस अजीब तर्क कि 'कांग्रेस एक ऐसी पारिवारिक कंपनी बनी हुई है, जिसका नेतृत्व ऐसा व्यक्ति कर रहा है जिसमें न अनुशासन है न ही उनका बायोडाटा उतना स्मृद्ध है', में गंभीर तर्क की कमी है और लगता है यह बिना सोचे-समझे कही गई ऐसी बात है जिसकी उम्मीद इतने बड़े लेखक से नहीं की जा सकती थी।

राहुल गांधी की गंभीरता और उनके काम-काज के अनुभव पर सवाल उठाकर गुहा ने लोकतंत्र की रक्षा के लिए राहुल के कड़े संघर्ष को कम करके आंका है जबकि गुहा खुद भी मानते हैं कि नरेन्द्र मोदी और अमित शाह की वजह से यह लोकतंत्र खतरे में पड़ गया है। सच तो यह है कि राहुल भाजपा-आरएसएस के खिलाफ वैचारिक लड़ाई को मजबूत करके कांग्रेस को नए सिरे से खड़ा करने में जुटे हैं।

अमेरिकी इतिहास के प्रोफेसर टिमोथी स्नाइडर ने 2017 की अपनी किताब 'ऑन टायरनीः ट्वेंटी लेसन्स फ्रॉम द ट्वेंटिएथ सेंचुरी' में लिखा हैः 'तानाशाह आपको फंसाने के लिए कोई बहाना या मौका ढूंढते हैं। कोशिश करें कि उन्हें ऐसा कोई मौका न मिले।'

भाजपा राहुल को फंसाने के लिए कोई न कोई बहाना ढूंढ रही है और उनकी गलतियों (अगर कोई हों) पर नजर रखे हुए है। 2019 में उनके खिलाफ मानहानि का केस दर्ज हुआ था, जिसमें सूरत की मजिस्ट्रेट कोर्ट ने उन्हें दोषी ठहराया और बाद में उनकी लोकसभा सदस्यता खत्म कर दी गई। यह साफ तौर पर उन्हें फंसाने के लिए की गई एक बेचैन लेकिन सोची-समझी कोशिश थी।

इस तरह की बातें राहुल और कांग्रेस टीम की उस कड़ी मेहनत को पूरी तरह नजरअंदाज करती हैं, जिसमें उन्होंने चुनाव आयोग से मिले लाखों पन्नों का अध्ययन किया और भाजपा के लिए वोट चुराने की उसकी सोची-समझी रणनीति का पर्दाफाश किया। बिहार में उनकी 'वोट अधिकार रैली' भारत में अपनी तरह की पहली रैली थी, जो सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के समर्थन में थी। यह रैली दक्षिण अफ्रीका के नटाल प्रांत में स्थानीय भारतीयों से वोट का अधिकार छीनने के खिलाफ 1894 में महात्मा गांधी के संघर्ष की याद दिलाती थी। राहुल ने जो किया, उसे कई पार्टियों ने अपनाया है; इसलिए यह कहना गलत होगा कि वह इस मुद्दे को आगे नहीं बढ़ा पाए।

भारत के आजादी की लड़ाई पर एक नजर डालने से पता चलता है कि 1930 में दांडी यात्रा के बाद, महात्मा गांधी ने 12 साल के अंतराल के बाद 1942 में 'भारत छोड़ो आंदोलन' शुरू किया था। क्या गांधी जी पर ब्रिटिश राज के खिलाफ अपनी लड़ाई जारी न रखने का आरोप लगाया जा सकता है, क्योंकि दांडी यात्रा और भारत छोड़ो आंदोलन के बीच 12 साल का अंतर था?

बेहतर होता अगर गुहा प्रधानमंत्री मोदी की पोल खोलने वाला कोई लेख लिखते, जिन्होंने तब एक शब्द भी नहीं कहा था जब वोटर लिस्ट के 'स्पेशल इंटेंसिव रिविजन' की वजह से लाखों लोगों को वोट देने के अधिकार से वंचित कर दिया गया था; जबकि इसके उलट, राहुल ने 'वोट चोरी' के खिलाफ एक जबरदस्त मुहिम छेड़ी थी, जिसकी गूंज पूरे देश में सुनाई दी थी।

इसके बजाय, कांग्रेस और राहुल पर गुहा की आलोचना में उस गहराई और सावधानीपूर्वक विश्लेषण की कमी है, जिसकी उम्मीद एक मझे हुए इतिहासकार से की जाती है। ■

> जैसे हिन्दू महासभा ने कांग्रेस, गांधी, नेहरू और पटेल को भारत के नेतृत्व के लिए अयोग्य बताया था, ठीक वैसी ही सोच राम गुहा के उस विश्लेषण में दिखती है जिसमें उन्होंने कांग्रेस और राहुल को अक्षम बताया है

एस.एन. साहू पूर्व राष्ट्रपति के.आर. नारायणन के विशेष कार्य अधिकारी रह चुके हैं। ये उनके अपने विचार हैं

उपकरण बेहतरीन, पर सावधानी जरूरी

आस्था और विज्ञान में विश्वास रखने वाले **पोप लियो XIV** ने एआई के दौर में इंसानियत की सुरक्षा पर अपने विचार रखे हैं। यह अंश 25 मई 2026 को प्रकाशित उनके पहले एनसाइक्लिकल (धर्मगुरु के आधिकारिक पत्र) 'मैग्निफिका ह्यूमैनिटास' से लिया गया है।

एआई (कृत्रिम बुद्धिमत्ता) को अपनाने के मामले में विवेक और कड़े मूल्यांकन की जरूरत है। आज यह इसलिए भी अधिक जरूरी हो गई है क्योंकि तकनीकी विकास की तेज रफ्तार और उसके प्रभावों को नियंत्रित करने में सक्षम सिर्फ अमूर्त (तर्क-वितर्क के) रूप में नैतिकता की दुहाई देना काफी नहीं। इसके लिए मजबूत कानूनी ढांचे, स्वतंत्र निगरानी, जागरूक उपयोगकर्ताओं और एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था की जरूरत है जो अपनी जिम्मेदारी से मुंह न मोड़े। अन्यथा, यह बदलाव केवल तकनीकी विचारकों के नियंत्रण में चला जाएगा और इसे एक 'अनिवार्य तथा अपरिहार्य' रूप में पेश किया जाने लगेगा। नतीजा यह होगा कि नियम-कायदे उन ताकतों द्वारा तय किए जाएंगे, जिनका डेटा, बुनियादी ढांचे और कंप्यूटिंग पावर पर कब्जा हो।

हमें एक और शर्त पर अड़ने का साहस दिखाना होगाः इसमें शामिल नैतिक ढांचों पर खुली बहस और उन्हें सामाजिक न्याय के साझा मानकों के दायरे में लाने की संभावना होनी चाहिए। वरना, जो लोग एआई को नियंत्रित कर रहे हैं, वे अपना नैतिक दृष्टिकोण दूसरों पर थोप देंगे और यही इन प्रणालियों का एक अदृश्य बुनियादी ढांचा बन जाएगा। आज सक्रिय राजनीतिक भागीदारी की जरूरत है जो उस समय रफ्तार को धीमा करने में सक्षम हो जब हर चीज तेजी से भाग रही हो, और जो उन समुदायों के अवसरों की रक्षा कर सके जो अभी भी इसमें हिस्सा लेना और सवाल पूछना चाहते हैं।

वास्तव में, हर बड़े तकनीकी बदलाव की तरह, एआई भी उन लोगों की ताकत को और बढ़ाता है जिनके पास पहले से ही आर्थिक संसाधन, विशेषज्ञता और डेटा तक पहुंच है। सामान्य जनहित और संसाधनों के सार्वभौमिक वितरण के नजरिये से यह गंभीर चिंताएं पैदा करता है, क्योंकि छोटे लेकिन अत्यधिक प्रभावशाली समूह सूचनाओं और उपभोग के तौर-तरीकों को आकार दे सकते हैं, लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को प्रभावित कर सकते हैं और आर्थिक गतिविधियों को अपने फायदे के लिए मोड़ सकते हैं।

[...]

एक ऐसी दुनिया में जहां डेटा, कंप्यूटिंग संसाधन और नियामक प्रभाव चंद हाथों में सिमटे हुए हैं, वहां 'जनहित' की बात करने का मतलब ज्ञान, अर्थव्यवस्था और राजनीति के इस नए असंतुलन को उजागर करना और एआई के इन नए एकाधिकारों को बेनकाब करना है। संसाधनों के सार्वभौमिक वितरण की बात करने का अर्थ है ऐसी राह खोजना जिससे इन तकनीकों और इनका उपयोग करने के लिए जरूरी शिक्षा तक सबकी समान पहुंच सुनिश्चित हो सके। 'पदानुक्रम' की बात करने का तकाजा है कि समुदायों की निर्णय लेने और सुधार करने की क्षमता की रक्षा की जाए। न्याय की बात करने के लिए वैश्विक सत्ता के उस वितरण पर सवाल उठाना जरूरी है जो यह तय करता है कि वास्तव में इन मॉडलों को कौन प्रशिक्षित कर सकता है और कौन सिर्फ इनके अधीन रहने को मजबूर है। इसी तरह, यह स्वीकार करना होगा कि सामाजिक न्याय केवल तकनीक के इस्तेमाल के बाद सुरक्षित किया जाने वाला लक्ष्य नहीं है।

अंत में, मैं 'निःशस्त्रीकरण' शब्द का उपयोग करना चाहूंगा, जो मेरे दिल के बेहद करीब है। एआई को 'निःशस्त्र' करने का मतलब इसे 'हथियारों से लैस' प्रतिस्पर्धा की उस मानसिकता से मुक्त करना है, जो आज केवल सैन्य संदर्भ तक सीमित नहीं है बल्कि एक आर्थिक और संज्ञानात्मक घटना बन चुकी है। निःशस्त्र करने का मतलब इस धारणा को खारिज करना है कि तकनीकी शक्ति स्वतः ही शासन करने का अधिकार दे देती है। निःशस्त्र करने का अर्थ तकनीक को नकारना नहीं, बल्कि इसे मानवता पर हावी होने से रोकना है। इसका अर्थ तकनीक को एकाधिकारवादी नियंत्रण से मुक्त करना है। आज हमारा कार्य केवल नैतिक या तकनीकी नहीं है। यह गहरे अर्थों में 'पारिस्थितिक' है। एआई पहले से ही एक ऐसा वातावरण है जिसमें हम डूबे हुए हैं, और एक ऐसी ताकत है जिससे हमें जूझना है। इस कारण, केवल इसे रेगुलेट करना नाकाफी है; इसे निःशस्त्र, स्वागतयोग्य और सुलभ बनाना होगा।

मैं आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस विकसित करने वाले डेवलपर्स से एक विशेष अपील करना चाहता हूं। एक मायने में, तकनीकी नवाचार निर्माण के दैवीय कार्य में मानवीय भागीदारी का प्रतिनिधित्व कर सकता है। इसलिए, डेवलपर्स एक विशेष नैतिक और आध्यात्मिक जिम्मेदारी निभाते हैं, क्योंकि उनके डिजाइन का हर एक फैसला मानवता के प्रति उनके दृष्टिकोण को दर्शाता है।

क्या खोना नहीं चाहिए

किसी सभ्यता की गुणवत्ता उसके साधनों की ताकत से नहीं, बल्कि इस बात से मापी जाती है कि वह देखभाल करने में कितनी सक्षम है, और दूसरे को केवल एक उपकरण के रूप में नहीं बल्कि एक इंसान के रूप में पहचानने की उसमें कितनी क्षमता है। एक-दूसरे की देखभाल करने की क्षमता हमारी मानवता का एक मौलिक आयाम है, जिसे वास्तविक जीवन के अनुभवों से सीखा और साधा जाता है। तकनीक भी लोगों के बीच इस आपसी देखभाल को सहारा दे सकती है, उदाहरण के लिए, ऐसे उपकरण प्रदान करके जो हमें मानवीय स्वतंत्रता और निर्णय क्षमता को नुकसान पहुंचाए बिना चीजों का पूर्वानुमान लगाने और उन्हें व्यवस्थित करने में मदद करते हैं। ■

> एआई भी उन लोगों की ताकत को और बढ़ाता है जिनके पास पहले से ही आर्थिक संसाधन, विशेषज्ञता और डेटा तक पहुंच है। सामान्य जनहित और संसाधनों के सार्वभौमिक वितरण के नजरिये से यह गंभीर चिंताएं पैदा करता है

फोटो: गेटी इमेजेज

पोप लियो XIV बार्सिलोना में कैथेड्रल ऑफ द होली क्रॉस एंड सेंट यूललिया में दोपहर की प्रार्थना सभा में

इस चिंतन का पहला भाग 7 जून के संडे नवजीवन में प्रकाशित हुआ था

पश्चिम में क्यों अप्रिय होते जा रहे हैं भारतीय?

पश्चिमी देशों में भारत-विरोधी भावनाएं तेजी से बढ़ रही हैं। लेकिन, इसे 'हिन्दूफोबिया' के खांचे में नहीं रखा जा सकता

अशोक स्वैन

पांच साल पहले, मैंने 'हिन्दूफोबिया' के मिथक को खारिज करते हुए एक लेख लिखा था। यह वह दौर था जब उत्तरी अमेरिका और यूरोप के कई हिन्दुत्ववादी संगठन 'इस्लामोफोबिया' की राजनीतिक काट के रूप में इस शब्द को आमफहम बनाने की कोशिश कर रहे थे। रणनीति साफ थीः अगर मुस्लिम भेदभाव, पूर्वाग्रह और हिंसा के इर्द-गिर्द गोलबंद हो सकते हैं, तो हिन्दू भी भारत में हिन्दुत्व की राजनीति को सुरक्षा कवच देने के लिए अपने ऊपर मंडराते खतरों का हौवा खड़ा कर सकते हैं। इसके तहत भारत में बहुसंख्यकवादी राष्ट्रवाद की आलोचना को 'हिन्दू-नफरत' के रूप में नया रंग देकर पेश किया गया।

पांच साल बीत चुके हैं और यह धंधा आज भी फल-फूल रहा है। डॉनल्ड ट्रंप की व्हाइट हाउस में वापसी ने पश्चिमी दुनिया के बड़े हिस्से में धुर-दक्षिणपंथी आंदोलनों के हौसले बुलंद कर दिए हैं। प्रवासियों के खिलाफ बयानबाजी अब वहां की मुख्यधारा की राजनीति का हिस्सा बन चुकी है। श्वेत राष्ट्रवादी समूह, जो कभी राजनीतिक हाशिये पर थे, आज कहीं ज्यादा प्रभाव का आनंद ले रहे हैं। इस नए माहौल में, विदेशों में रहने वाले भारतीय खुद को नस्लवाद और बाहरी लोगों के प्रति नफरती भावना का सामना कर रहे हैं।

इस कड़वी हकीकत को स्वीकार किया जाना चाहिए। भारत और भारतीयों के खिलाफ नफरत की यह भावना वास्तविक है, बदसूरत है और लगातार बढ़ रही है। आयरलैंड, इटली, ऑस्ट्रेलिया, कनाडा, ब्रिटेन और अमेरिका में भारतीयों पर होने वाले हमलों की खबरें अब आम हैं। सोशल मीडिया पर भारतीयों के खिलाफ खुलकर नस्लीय और अपमानजनक टिप्पणियां की जा रही हैं।

अमेरिका में विवेक रामास्वामी जैसे अत्यधिक सफल भारतीय-अमेरिकी, जिन्होंने बड़े उत्साह के साथ खुद को ट्रंप से जोड़ा था, भी अब समझ चुके हैं कि उनकी राजनीतिक वफादारी नस्लीय पूर्वाग्रहों से उनकी रक्षा नहीं कर सकती। श्वेत वर्चस्ववादियों के लिए भारतीय हमेशा 'बाहरी' ही रहेंगे, चाहे उनकी दौलत, शिक्षा, राजनीतिक विचार या पेशेवर हैसियत कितनी ही ऊंची क्यों न हो।

लेकिन, भारतीयों के खिलाफ होने वाले इस नस्लवाद को 'हिन्दूफोबिया' का नाम नहीं दिया जा सकता। भारतीयों के प्रति इस शत्रुता की जड़ें उनकी हिन्दू पहचान में नहीं है। यह आंशिक रूप से नस्लीय पूर्वाग्रह, आर्थिक असुरक्षा और प्रवासी-विरोधी राजनीति का हिस्सा है।

दशकों तक, विदेशों में भारतीयों की छवि बेहद अनुकरणीय रही। उन्हें मेहनती, शिक्षित, उद्यमशील और कानून का पालन करने वाले 'आदर्श प्रवासियों' के रूप में देखा जाता था। चिकित्सा, इंजीनियरिंग, शिक्षा जगत, तकनीक और व्यापार के क्षेत्र में उनकी उपलब्धियों ने उन्हें सम्मान और सराहना दिलाई। लेकिन अब भारतीयों के प्रति यह बुनियादी नजरिया बदल रहा है।

न्यूयॉर्क से लेकर वियतनाम तक, भारतीय प्रवासियों और पर्यटकों के सांस्कृतिक अहंकार की तस्वीरों ने फायदे से ज्यादा नुकसान ही पहुंचाया है

इस बदलाव का सबसे मुख्य कारण प्रवासियों का अंध-राष्ट्रवाद है। पिछले लगभग दस वर्षों में, मोदी सरकार ने प्रवासी भारतीयों में 'सभ्यतागत गौरव' को कूट-कूट कर भरने की कोशिश की है। अपनी विरासत या सांस्कृतिक जड़ों पर गर्व करना एक बात है, लेकिन जब यह गर्व अहंकार में बदल जाए, तो यह दूसरों को उकसाने का काम करता है।

विदेशों में रहने वाले कई संपन्न भारतीय, विशेष रूप से उच्च जाति के हिन्दू, खुद को महज एक सफल प्रवासी के रूप में नहीं, बल्कि एक उभरती वैश्विक महाशक्ति के प्रतिनिधियों के रूप में देखने लगे हैं। उन्होंने इस भ्रामक नैरेटिव को पूरी तरह आत्मसात कर लिया है कि मोदी के नेतृत्व में भारत एक 'विश्वगुरु' या महाशक्ति बन चुका है, जो वैश्विक मंच पर अपना खोया हुआ हक वापस ले रहा है। इस भ्रम ने उनके भीतर एक अवांछित अहंकार को जन्म दिया है।

प्रवासी भारतीयों के कुछ हलकों में अब अन्य प्रवासी समुदायों को नीची नजर से देखने और स्थानीय समाज से विशेष व्यवहार की उम्मीद करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। पेशेवर सफलता ने उनके मन में यह उम्मीद जगा दी है कि वे अधिक पहचान और प्रभाव के हकदार हैं। उनके इस बढ़े हुए अहंकार और विशेषाधिकार की भावना पर पश्चिमी समाज की नजर पड़ चुकी है।

प्रवासी भारतीयों का यह सांस्कृतिक अहंकार, आक्रामक राष्ट्रवाद और स्थानीय सामाजिक मानदंडों के प्रति सम्मान की कमी अब पश्चिम में सार्वजनिक बहसों का हिस्सा बन रही है। वहां के बुद्धिजीवी अब उन समाजों के अंतर्विरोधों पर सवाल उठा रहे हैं जो एक तरफ जाति के आधार पर भेदभाव करते हैं और दूसरी तरफ समानता को बुनियादी मूल्य मानने वाले देशों में रहते हैं। विश्वविद्यालयों, कार्यस्थलों और सामाजिक संगठनों में अब जातिगत पहचान को लेकर ऐसे तनाव देखे जा रहे हैं, जिनसे पश्चिम का सामना पहले कभी नहीं हुआ था।

> पश्चिम में भारतीयों के प्रति शत्रुता की दो वजह है। एक, प्रवासियों को बलि का बकरा बनाने वाले धुर-दक्षिणपंथी विस्तार और दो, खुद भारतीयों का नस्लीय और जातिगत पूर्वाग्रहों, सांस्कृतिक अहंकार और जहरीले हिन्दुत्व को समर्थन जिसने पीढ़ियों से अर्जित सद्भावना को मिट्टी में मिला दिया है

भारतीय पर्यटक भी प्रवासी भारतीयों की इस खराब होती छवि में योगदान दे रहे हैं। सोशल मीडिया ऐसे वीडियो से भरा पड़ा है जहां भारतीय पर्यटक नियमों की अनदेखी करते, सार्वजनिक स्थानों पर हुड़दंग मचाते, स्थानीय रीति-रिवाजों का अपमान करते या गैर-जिम्मेदाराना व्यवहार करते दिखते हैं। मुमकिन है कि ऐसे लोग बेहद कम हों, लेकिन हम उस दौर में जी रहे हैं जहां आंकड़ों से ज्यादा वीडियो का वायरल होना मायने रखता है।

इस व्यवहार की सबसे बड़ी खासियत वह विशेषाधिकार की भावना है जो दुनिया में भारत की बढ़ती साख और मोदी के वैश्विक कद के भ्रामक प्रचार से पैदा होती है। मोदी सरकार के राष्ट्रवादी दुष्प्रचार के लगातार संपर्क में रहने के कारण इस हुड़दंगी जमात को लगता है कि भारत पहले ही महाशक्ति बन चुका है; मोदी दुनिया के सबसे लोकप्रिय नेता हैं; 'भारतीय संस्कृति' की हर जगह पूजा होती है; और भारतीय जहां भी जाएंगे, उन्हें विशेष सम्मान मिलेगा। जब यह काल्पनिक दर्जा जमीनी हकीकत से टकराता है, तो वहां ऐसा व्यवहार पैदा होता है जिसे स्थानीय लोग बर्दाश्त नहीं कर पाते।

इसका मतलब यह कतई नहीं है कि नस्लवाद को जायज ठहराया जा सकता है। कभी नहीं। नस्लीय हरकतों की पूरी जिम्मेदारी हमेशा जुल्म करने वाले की होती है। फिर भी, इन नकारात्मक धारणाओं के फैलने के कारणों को समझने के लिए केवल निंदा करना काफी नहीं है। इसके लिए उस सामाजिक और राजनीतिक संदर्भ को गहराई से समझना होगा जिसमें ये धारणाएं अपनी जगह बना रही हैं।

एक और असहज करने वाली हकीकत खुद भारतीय समुदाय के भीतर मौजूद नस्लवाद और पूर्वाग्रहों से जुड़ी है। मुस्लिम-विरोधी पूर्वाग्रह, अश्वेतों के प्रति रूढ़िवादी सोच, शरणार्थियों के प्रति शत्रुता और विभाजनकारी राष्ट्रवादी राजनीति का समर्थन अब प्रवासी भारतीयों की पहचान बनता जा रहा है। अंतर्विरोध चौंकाने वाला हैः भारतीयों के खिलाफ होने वाले नस्लवाद की सबसे तेज आवाज में आलोचना करने वाले लोग ही भारत और दुनिया के अन्य हिस्सों में प्रवासियों, मुसलमानों और अन्य अल्पसंख्यकों को खलनायक बनाने वाले राजनीतिक आंदोलनों का समर्थन करते हैं।

यह अंतर्विरोध ट्रंप और अन्य धुर-दक्षिणपंथी आंदोलनों का समर्थन करने वाले भारतीयों में साफ दिखता है। कई लोगों का मानना था कि उनकी आर्थिक सफलता और राजनीतिक वफादारी उन्हें रूढ़िवादी राष्ट्रवादी हलकों में स्वीकार्यता दिला देगी। उन्होंने दूसरों के खिलाफ की जाने वाली प्रवासी-विरोधी बयानबाजी का खुशी-खुशी समर्थन किया, यह सोचकर कि वे खुद इसके दुष्परिणामों से सुरक्षित रहेंगे। लेकिन श्वेत राष्ट्रवाद कभी भी हिन्दुओं और मुसलमानों, सिखों या ईसाइयों के बीच फर्क नहीं करता, न ही अमीर और गरीब के बीच, और न रूढ़िवादी और उदारवादी के बीच। जब नस्लीय असुरक्षा बढ़ती है, तो हर 'विदेशी' उसका निशाना बनता है।

हालांकि भारतीयों के खिलाफ नस्लवाद वास्तविक है, लेकिन विदेशों में रहने वाले भारतीयों को हर सामाजिक आलोचना को 'नस्लवाद' का बाना पहनाने की आदत से बचना होगा। सामाजिक व्यवहार के बारे में की जाने वाली हर शिकायत जेनोफोबिक नहीं होती। जातिगत भेदभाव पर चर्चाएं भारत-विरोधी नहीं हैं। और न ही भारत में बहुसंख्यकवादी राष्ट्रवाद की आलोचना करना हिन्दू धर्म पर हमला है।

पश्चिमी दुनिया के कुछ हिस्सों में भारतीयों को जिस शत्रुता का सामना करना पड़ रहा है, वह दो समानांतर घटनाक्रमों का नतीजा है। यह जितना प्रवासियों को बलि का बकरा बनाने वाले धुर-दक्षिणपंथ के विस्तार से पैदा हुआ है, उतना ही खुद भारतीयों के नस्लीय और जातिगत पूर्वाग्रहों, सांस्कृतिक अहंकार और जहरीले हिन्दुत्व के समर्थन का भी नतीजा है, जिसने पीढ़ियों से अर्जित सद्भावना को मिट्टी में मिला दिया है।

पश्चिम में प्रवासी भारतीयों का भविष्य न केवल नस्लवाद का विरोध करने पर, बल्कि नागरिक जिम्मेदारी के गुणों को फिर से तलाशने पर निर्भर करता है; इस बात पर निर्भर करता है कि क्या वे उन समाजों के प्रति सम्मानजनक हो सकते हैं जिनमें वे अब रह रहे हैं, और उन देशों का आदर कर सकते हैं जिन्हें वे अब अपना घर कहते हैं। ■

अशोक स्वैन स्वीडन की उप्सला यूनिवर्सिटी में पीस एंड कॉन्फ्लिक्ट रिसर्च के प्रोफेसर हैं

योगी के ट्रेड यूनियनों पर भड़कने के मायने

बेहतर होगा कि बेवजह भड़कने के बजाय खुद को और अपने संघ परिवार को इन तथ्यों के आईने में देखें

कृष्ण प्रताप सिंह

हाल में नोएडा में हुए प्रदर्शनों के बाद श्रमिकों और उनके नेताओं पर हो रहे दमन से राज्य सरकार के नेतृत्व की मंशा साफ है

आपको याद होगा, नोएडा और राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के मजदूरों ने न्यूनतम वेतन और कुछ अन्य मांगों को लेकर अप्रैल में जो आंदोलन किया, उसके दबाव में भाजपा की उत्तर प्रदेश की योगी आदित्यनाथ सरकार को उनके आगे झुकना पड़ा था। यह और बात है कि बाद में उनके आंदोलन के पीछे 'सोची समझी साजिश', उसमें 'बाहरी तत्वों के शामिल होने' और 'हिंसा भड़काने' समेत कई तोहमतें लगाकर वह उत्पीड़क कार्रवाइयों से भी बाज नहीं आई।

मुख्यमंत्री तो उसके बाद से ही ट्रेड यूनियनों पर भड़कने का कोई मौका नहीं छोड़ रहे। कभी कहते हैं कि ये यूनियनें हमेशा 'सत्यानाश' ही किया करती हैं। बाहरी हस्तक्षेप के जरिए अशांति फैलाने में लगी रहती हैं। निवेशकों को डराती हैं, जिससे निवेश रुक जाता है। वह शिक्षकों को उनके पेशे की 'पवित्रता व गरिमा' याद दिलाकर इन यूनियनों का हिस्सा बनने से मना करने लगते हैं।

जानकारों के अनुसार ब्रिटेन और जर्मनी वगैरह में, जहां सबसे पहले औद्योगिक क्रांति हुई और कल-कारखाने बने, ट्रेड यूनियनों के बनने और सक्रिय होने से पहले मजदूरों से रोज 14-15 घंटे काम लिया जाता था। औद्योगिक क्रांति भारत पहुंची तो यहां भी उनको ऐसे ही हालात मिले।

1928 में ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस का एक प्रतिनिधिमंडल भारत आया तो उसने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि नौ गुणे नौ फीट की अंधेरी और मिट्टी की दीवारों वाली कोठरियों में कई-कई मजदूर रहते हैं। उन्हीं बिना खिड़की वाली कोठरियों में वे खाना भी पकाते हैं।

1938 में अंतराष्ट्रीय मजदूर सम्मेलन में पेश की गई एक रिपोर्ट के अनुसार, तब भारत में मजदूरों को बेरोजगारी और वृद्धावस्था वगैरह और असमय मृत्यु के वक्त किसी सहायता की कोई व्यवस्था नहीं थी। रिपोर्ट कहती थी कि भारत के सबसे बड़े औद्योगिक शहर बम्बई (अब मुम्बई) में मजदूरों की दुर्दशा किसी भी सभ्य समाज के लिए शर्म की बात है।

इतिहास गवाह है कि इस हालत में सुधार ट्रेड यूनियनें बनने और उनके संघर्ष करने के बाद ही संभव हुआ। तब, जब उनके नेताओं ने मजदूरों को उनकी न्यायोचित मांगों के लिए कंधे से कंधा मिलाकर संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया।

अफसोस कि इन सारी प्रेरणाओं की ओर पीठ करके वर्तमान के कुछ छोटे-मोटे विचलनों का तूमार बांध रहे योगी इरादतन 'भूल' जाते हैं कि देश की ट्रेड यूनियनों में सबसे बड़ी होने का दावा करने वाला भारतीय मजदूर संघ उनके राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ परिवार का ही है।

जानकारों के अनुसार, 1955 में 23 जुलाई को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के 'स्वतंत्रता सेनानी और विचारक' दत्तोपंत ठेंगड़ी ने इस दावे के साथ इस मजदूर संघ की नींव डाली थी कि वह मार्क्सवाद या समाजवाद जैसी किसी विदेशी विचारधारा के बजाय 'भारतीय संस्कृति और राष्ट्रवाद के सिद्धांत' पर कार्य करेगा और राष्ट्र, उद्योग और मजदूरों के हितों के बीच संतुलन बनाएगा।

स्वाभाविक ही उसकी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के वैचारिक सहयोगी की पहचान है और चूंकि ट्रेड यूनियनों पर भड़कते हुए योगी न उसको उनसे अलग करते हैं, न उन पर लगाई गई तोहमतों से, इसलिए पिछले दिनों इसने भी उनके कथनों से गहरी निराशा और असहमति जताई।

उसके उत्तर प्रदेश महामंत्री अनिल उपाध्याय ने ट्रेड यूनियनों के काम को गरिमापूर्ण, सम्मानजनक और पवित्र करार दिया और कहा कि वह किसी भी तरह से मजदूरों या समाज की गरिमा के खिलाफ नहीं है। सारी ट्रेड यूनियनों को एक ही तराजू में तौलकर यह कहना उचित नहीं कि उन्होंने सत्यानाश ही किया है।

लेकिन इस सिलसिले में आगे और भी कई ऐसी बातें हैं, जिन्हें अपने अंतर्विरोधों के बावजूद न अनिल उपाध्याय बताना चाहेंगे, न योगी सुनना। मिसाल के तौर पर अंग्रेजों के वक्त वह बाबासाहब डॉ. भीमराव आम्बेडकर ही थे, जिन्होंने 8 नवंबर 1943 को वायसराय की कार्यकारी परिषद के श्रम सदस्य (श्रम मंत्री) के तौर पर भारतीय व्यापार संघ (संशोधन) विधेयक पेश और पास कराकर फैक्ट्री मालिकों के लिए ट्रेड यूनियनों को मान्यता देना कानूनी रूप से अनिवार्य करा दिया था। जाहिर है कि वह मजदूरों के कल्याण के लिए उनको जरूरी मानते थे। योगी इसके विपरीत उनको सत्यानाशी मानते हैं तो कौन कह सकता है कि इसके पीछे बाबासाहब और उनके संविधान के प्रति उनकी खामखयाली नहीं है?

काश, इस खामखयाली से परे कभी योगी यह जानना चाहते कि बाबासाहब से पहले 1920 में मुम्बई में आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (एटक) बनी तो लाला लाजपतराय उसके अध्यक्ष बने थे। वह लाला लाजपतराय, जिनके योगी भी प्रशंसक हैं। तब वह जान जाते कि लाला लाजपतराय और उनके बाद देशबंधु चितरंजन दास के अध्यक्षकाल में एटक ने काम के घंटों के निर्धारण समेत मजदूरों को अनेक प्रकार की सामाजिक सुरक्षाएं हासिल कराईं, न कि उनका सत्यानाश किया। उस दौर में ट्रेड यूनियनों ने अपनी आर्थिक मांगों को लेकर ही संघर्ष नहीं किए, वे राष्ट्रीय आंदोलन की प्रहरी भी बनीं। दूसरे शब्दों में कहें तो हिरावल दस्ता।

इससे भी पहले 1908 में जब मजदूर आंदोलन अपनी आरंभिक अवस्था में ही था, गोरी सरकार द्वारा प्रखर राष्ट्रवादी नेता बाल गंगाधर तिलक को छह वर्ष की सजा सुना दी गई तो उसके विरुद्ध बम्बई में मजदूरों ने छह दिनों की आम हड़ताल की थी। यह संभव है कि योगी को वह हड़ताल भी सकारात्मक न लगती हो, क्योंकि जैसे आजादी की लड़ाई में वैसे ही उसमें भी उनके पितृ संगठन की कोई हिस्सेदारी न हो, जिसे लेकर वे हीनभावना के शिकार हों। लेकिन उनको इस सवाल का सामना तो करना ही चाहिए कि ट्रेड यूनियनों की भूमिका सकारात्मक न होती तो स्वतंत्रता सेनानी, लेखक और समाज सुधारक लाला लाजपतराय भला क्यों देश भर में उनको संगठित करने में लगे रहते?

> वर्तमान के कुछ छोटे-मोटे विचलनों का तूमार बांध रहे योगी इरादतन 'भूल' जाते हैं कि देश की ट्रेड यूनियनों में सबसे बड़ी होने का दावा करने वाला भारतीय मजदूर संघ उनके राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ परिवार का ही है

इतिहास गवाह है कि गुलामी के उस दौर में उन्होंने मजदूरों के शोषण को पहचाना और उन्हें अपनी यूनियनों के बैनर पर एकजुट होकर बेहतर मजदूरी, काम के घंटे और श्रम सुरक्षा हेतु आवाज उठाने के लिए प्रेरित किया। 1914 से 1920 तक अपने विदेश वास के दौरान वे ब्रिटिश लेबर पार्टी के संपर्क में आए और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भारतीय मजदूरों की आवाज उठाई। इसी तरह देशबंधु चित्तरंजनदास न केवल महान स्वतंत्रता सेनानी, वकील और राजनेता बल्कि भारतीय मजदूर आंदोलन के भी बड़े नेता और शुभचिंतक थे। मजदूरों के पसीने को वे देश का खून मानते थे और उन्होंने श्रमिकों के शोषण के खिलाफ खुलकर आवाज उठाई थी।

ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने कलकत्ता (अब कोलकाता) में भी विभिन्न मिलों और कारखानों के मजदूरों की हड़तालों का समर्थन किया और उन्हें ब्रिटिश सरकार और पूंजीपतियों के अत्याचारों से बचाने के लिए कानूनी और नैतिक सहायता प्रदान की थी।

1942 में बाबासाहब डॉ भीमराव आम्बेडकर वायसराय की कार्यकारी परिषद में श्रम सदस्य (श्रम मंत्री) बने तो उनका भी ट्रेड यूनियनों से गहरा नाता बना। उन्होंने देश के श्रम कानूनों, मजदूरों की कार्य स्थितियों और सामाजिक सुरक्षा में क्रांतिकारी सुधार किए। उनके प्रयासों से ही मजदूरों के काम करने के घंटे 10-14 से घटाकर 8 घंटे किए गए।

मजदूरों, नियोक्ताओं और सरकार के बीच विवादों के समाधान और श्रम नीतियों पर चर्चा के लिए भारतीय श्रम सम्मेलन की शुरुआत भी तभी हुई। तभी पहली बार समान काम के लिए समान वेतन का सिद्धांत भी लागू किया गया ताकि महिला और पुरुष मजदूरों के बीच कोई भेदभाव न हो। उन्हीं दिनों बेरोजगार युवाओं को रोजगार दिलाने में मदद के लिए रोजगार कार्यालय खोले गये और महिला कर्मचारियों के लिए मातृत्व लाभ अधिनियम पास करवाया गया, जिसके तहत उन्हें सवेतन मातृत्व अवकाश और कार्यस्थल पर बच्चों के लिए पालना घर (क्रेच) की सुविधा मिली।

इतना ही नहीं, कारखानों के मजदूरों के लिए नियमित सवेतन वार्षिक अवकाश का प्रावधान लागू किया गया, कर्मचारियों के लिए भविष्य निधि की नींव रखी गई और बाद के कर्मचारी राज्य बीमा जैसे सुरक्षा उपायों का मार्ग प्रशस्त किया गया।

उन्हीं दिनों बाबासाहब ने कल कारखानों के दौरे किये और मजदूरों की झोंपड़ियों में जाकर उनकी दुर्दशा देखी। सितंबर 1943 में दिल्ली में अखिल भारतीय कार्मिक संघ के कार्यकर्ताओं के अध्ययन शिविर में उन्होंने कहा कि मजदूर संगठनों से बहुत से उपयोगी उद्देश्यों की पूर्ति होती है पर वे तभी ज्यादा प्रभावकारी होंगे जब उनके पीछे मजदूरों की विश्वसनीय सरकार हो। इसलिए मजदूरों को सरकार पर अपना नियंत्रण कायम करने को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए।

ऐसे में योगी के लिए बेहतर होगा कि ट्रेड यूनियनों पर बेवजह भड़कने के बजाय वह कभी खुद को और अपने (संघ) परिवार को इन तथ्यों के आईने में देखें और आत्मावलोकन करें। ■

लोकतंत्र, पूंजी और सत्ता का निजीकरण

सवाल उस व्यवस्था का है जिसमें पूंजी, मीडिया, तकनीक और राष्ट्रवाद मिलकर लोकतंत्र को कमजोर कर रहे हैं

शैलेन्द्र चौहान

अमेरिकी राजनीति में डॉनल्ड ट्रंप का उदय केवल एक व्यक्ति का सत्ता में आना नहीं था, बल्कि वह पूंजी, राष्ट्रवाद, कॉरपोरेट हितों और जन असंतोष के एक जटिल गठजोड़ का परिणाम था। ट्रंप ने स्वयं को "एंटी-एस्टैब्लिशमेंट" नेता के रूप में प्रस्तुत किया, लेकिन सत्ता में आने के बाद उनकी नीतियों और निर्णयों ने बार-बार यह संकेत दिया कि वह राज्य को सार्वजनिक संस्था नहीं, बल्कि निजी व्यापारिक साम्राज्य की तरह संचालित करना चाहते हैं।

हाल में प्रकाशित रिपोर्ट "The Price of Corruption: How Trump's Pay-to-Play Administration is Driving Up Costs for Working Families" इसी प्रवृत्ति को रेखांकित करती है। यह रिपोर्ट केवल व्यक्तिगत भ्रष्टाचार की सूची नहीं है। यह उस व्यापक राजनीतिक अर्थव्यवस्था का दस्तावेज है जिसमें लोकतांत्रिक संस्थाएं धीरे-धीरे कॉरपोरेट हितों और निजी लाभ के औजार में बदलती जाती हैं।

अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप की टैरिफ नीति बताती है कि आर्थिक नीतियां संस्थागत विवेक से नहीं, व्यक्तिगत समीकरणों से संचालित हो रही हैं

रिपोर्ट का सबसे गंभीर निष्कर्ष यह है कि ट्रंप प्रशासन की नीतियां केवल राजनीतिक पक्षधरता तक सीमित नहीं रहीं, बल्कि उन्होंने आम अमेरिकी नागरिकों की जेब पर प्रत्यक्ष आर्थिक बोझ डाला। "TrumpRx" जैसी योजनाओं को जनता के लिए सस्ती दवाओं के विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया गया, लेकिन वास्तविकता यह बताती है कि ये मंच बड़ी दवा कंपनियों के हितों को आगे बढ़ाने वाले माध्यम बन गए। दवा बाजार में पहले से मौजूद सस्ती जेनेरिक दवाओं की जानकारी छिपाना केवल उपभोक्ता को भ्रमित करना नहीं, बल्कि बाजार को नियंत्रित करने की रणनीति भी है।

यहां एक गहरी विडंबना दिखाई देती है। जिस नेता ने चुनाव प्रचार में "भ्रष्ट वाशिंगटन" और "कॉरपोरेट लूट" के विरुद्ध जनता को उकसाया था, वही सत्ता में आने के बाद कॉरपोरेट समूहों और अपने पारिवारिक नेटवर्क के लिए राज्य की संरचनाओं का इस्तेमाल करता दिखाई देता है। यह आधुनिक पूंजीवादी लोकतंत्र की उस बीमारी का लक्षण है जिसमें राजनीति और निजी व्यापार के बीच की सीमाएं मिटती जा रही हैं।

टैरिफ नीति इसका दूसरा उदाहरण है। सामान्यतः आयात शुल्क को राष्ट्रीय आर्थिक रणनीति के हिस्से के रूप में देखा जाता है, लेकिन ट्रंप के दौर में यह कई बार व्यक्तिगत राजनीतिक और कारोबारी सौदों का माध्यम प्रतीत हुआ। स्विट्जरलैंड के साथ टैरिफ में नरमी और उसके तुरंत बाद महंगे उपहारों का आदान-प्रदान संकेत देता है कि आर्थिक नीतियां संस्थागत विवेक से नहीं, बल्कि व्यक्तिगत समीकरणों से संचालित हो रही थीं।

ब्राजील पर लगाए गए टैरिफ और वहां के दक्षिणपंथी नेतृत्व के प्रति खुला समर्थन यह दर्शाता है कि ट्रंप वैश्विक दक्षिणपंथी राजनीति को वैचारिक गठबंधन की तरह देखते हैं। इसका आर्थिक परिणाम अमेरिकी उपभोक्ताओं ने भुगता, जब कॉफी जैसी रोजमर्रा की वस्तुओं की कीमतें बढ़ीं। यहां लोकतंत्र और बाजार दोनों ही राजनीतिक प्रतिशोध के औजार में बदलते दिखाई देते हैं।

रिपोर्ट में उल्लिखित क्षमादान की राजनीति भी अमेरिकी लोकतंत्र के नैतिक संकट की ओर संकेत करती है। पूंजी, राजनीतिक निष्ठा और कानूनी संरक्षण के बीच जो संबंध उभरता है, वह किसी आधुनिक लोकतांत्रिक गणराज्य की अपेक्षा सामंती संरचना जैसा लगता है। यदि एक धनी कारोबारी दान देकर दंड से मुक्ति प्राप्त कर सकता है, तो कानून की समानता का सिद्धांत अर्थहीन हो जाता है। क्रिप्टोकरेंसी और ऑनलाइन प्रिडिक्शन मार्केट से जुड़े मामलों में यह प्रवृत्ति और स्पष्ट हो जाती है। नियामक संस्थाओं का काम बाजार को नियंत्रित करना और सार्वजनिक हित की रक्षा करना होता है, लेकिन जब वही संस्थाएं सत्ता से जुड़े कारोबारी हितों की संरक्षक बन जाएं, तब राज्य का चरित्र बदलने लगता है। यह "रेगुलेटरी कैप्चर" का चरम रूप है, जिसमें नियमन करने वाली संस्था स्वयं कॉरपोरेट हितों के प्रभाव में आ जाती है।

ट्रंप मॉडल की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह भ्रष्टाचार को छिपाता नहीं, बल्कि उसे आक्रामक राजनीतिक शैली में सामान्य बनाने की कोशिश करता है। यह पारंपरिक भ्रष्टाचार से अलग है। पहले सत्ता अपने अनैतिक गठबंधनों को पर्दे के पीछे रखती थी। अब उन्हें "राष्ट्रवाद", "व्यापारिक दक्षता" और "एंटी-एलीट राजनीति" के नाम पर वैध ठहराया जाता है।

यही कारण है कि यह प्रश्न केवल अमेरिका तक सीमित नहीं है। दुनिया भर में उभरती दक्षिणपंथी लोकलुभावन राजनीति में यह पैटर्न दिखाई देता है—लोकतांत्रिक जनादेश का उपयोग कर राज्य को निजी पूंजी और पारिवारिक सत्ता के नेटवर्क में बदल देना। इसमें जनता को सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, पहचान की राजनीति और भय के विमर्शों में उलझाकर आर्थिक प्रश्नों से दूर रखा जाता है।

पिछले तीन दशकों में नवउदारवादी वैश्वीकरण ने दुनिया की राजनीति को गहरे रूप में प्रभावित किया है। राज्य की भूमिका को लगातार सीमित किया गया, सार्वजनिक संस्थाओं का निजीकरण हुआ और बाजार को सर्वोच्च मूल्य के रूप में स्थापित किया गया। परिणाम यह हुआ कि लोकतंत्र का नैतिक आधार कमजोर पड़ने लगा। राजनीति अब नागरिकों के अधिकारों की रक्षा का माध्यम कम और निवेश, मुनाफे तथा कॉरपोरेट स्थिरता की गारंटी देने वाली व्यवस्था अधिक बनती गई।

यह परिवर्तन केवल आर्थिक नहीं था। इसका गहरा सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभाव भी पड़ा। श्रम की असुरक्षा बढ़ी, मध्यवर्ग की स्थिरता टूटी और समाज में व्यापक असंतोष पैदा हुआ। इसी असंतोष को दक्षिणपंथी लोकलुभावन नेताओं ने राष्ट्रवाद, नस्लीय श्रेष्ठता, धार्मिक पहचान और प्रवासी विरोधी राजनीति में बदल दिया। जनता के वास्तविक आर्थिक संकटों को सांस्कृतिक संघर्षों में रूपांतरित कर दिया गया।

यूरोप में विक्टर ओरबान, जॉर्जिया मेलोनी और मरीन ले पेन जैसी राजनीतिक धाराएं हों, या लैटिन अमेरिका में बोल्सोनारो की राजनीति—हर जगह एक समान पैटर्न दिखाई देता है। लोकतंत्र की भाषा बनी रहती है, चुनाव होते रहते हैं, लेकिन संस्थाओं की स्वायत्तता धीरे-धीरे समाप्त होती जाती है। न्यायपालिका, मीडिया, विश्वविद्यालय और सांस्कृतिक संस्थाएं सत्ता के दबाव में आने लगती हैं।

> लोकतंत्र का भविष्य केवल संस्थागत सुधारों से सुरक्षित नहीं होगा। इसके लिए सामाजिक समानता, सार्वजनिक नैतिकता, आर्थिक न्याय और नागरिक चेतना को पुनर्स्थापित करना होगा

तकनीकी पूंजीवाद ने इस संकट को और गहरा किया है। आज गूगल, मेटा, अमेजन, एक्स और अन्य डिजिटल कंपनियां केवल व्यापारिक संस्थाएं नहीं रहीं। वे नागरिक जीवन, सूचना प्रवाह और राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करने वाली शक्तियां बन चुकी हैं। डेटा अब नया तेल कहा जाता है। नागरिक केवल मतदाता नहीं, बल्कि उपभोक्ता और डेटा-उत्पाद में बदल दिए गए हैं।

इस प्रक्रिया में निजता, स्वतंत्रता और नागरिक अधिकारों का प्रश्न भी संकट में पड़ गया है। निगरानी पूंजीवाद के इस दौर में नागरिकों की गतिविधियां, पसंद, भय और व्यवहार लगातार दर्ज किए जा रहे हैं और राजनीतिक अभियानों में इस्तेमाल किए जा रहे हैं। लोकतंत्र का अर्थ अब केवल चुनाव जीतना रह गया है। जनता की चेतना को नियंत्रित करना भी उसका हिस्सा बन चुका है।

नैतिक दृष्टि से यह स्थिति अत्यंत चिंताजनक है। लोकतंत्र केवल संस्थागत ढांचा नहीं, बल्कि एक नैतिक अवधारणा भी है, जो समानता, न्याय, उत्तरदायित्व और सार्वजनिक हित पर आधारित होती है। लेकिन जब राजनीति निजी लाभ का माध्यम बन जाती है, तब नैतिकता को "व्यावहारिकता" कहकर खारिज कर दिया जाता है। भ्रष्टाचार को दक्षता और कॉरपोरेट गठजोड़ को विकास का नाम दिया जाता है।

आवश्यकता केवल किसी एक नेता की आलोचना की नहीं, बल्कि उस आर्थिक-सामाजिक संरचना को समझने की है जिसमें राजनीति धीरे-धीरे सार्वजनिक उत्तरदायित्व से हटकर निजी संपत्ति में बदलती जा रही है। प्रश्न केवल ट्रंप का नहीं है। प्रश्न उस वैश्विक व्यवस्था का है जिसमें पूंजी, मीडिया, तकनीक और राष्ट्रवाद मिलकर लोकतंत्र की आत्मा को कमजोर कर रहे हैं।

लोकतंत्र का भविष्य केवल संस्थागत सुधारों से सुरक्षित नहीं होगा। इसके लिए सामाजिक समानता, सार्वजनिक नैतिकता, आर्थिक न्याय और नागरिक चेतना को पुनर्स्थापित करना होगा। अन्यथा लोकतंत्र अंततः नागरिकों का नहीं, धन और प्रभाव के गठजोड़ का तंत्र बनकर रह जाएगा। ■

संडे नवजीवन
रविवार, 14 जून, 2026 । www.navjivanindia.com
Published Date 14 June, 2026 (Sunday), Posted at LPC Delhi RMS, Delhi-06, Posting Days Friday and Saturday

तो किस्सों में रह जाएगी कंबल बुनकरी

कभी बिहार के भोजपुर में बड़े पैमाने पर भेड़-पालन होता था। ऊन उत्पादन शिखर पर था और कंबल बुनाई का काम आजीविका का अहम साधन

दीपशिखा सिंह

भोजपुर की राधा देवी याद करती हैं जब पूरा परिवार सूत कातता और कंबल बुनता था। अब वह सूत कातना भूलती जा रही हैं। दरअसल, वैसे कंबलों की मांग रही नहीं। उन्होंने अंतिम कंबल 2016 में बुना था। भेड़ें पालना भी तो आसान नहीं रह गया

जब युवा थी, तो हमने कभी सोचा भी नहीं था कि हम कभी ये काम छोड़ेंगे। लेकिन राधा देवी के घर की मचान पर धूल खा रहे औजार एक अलग ही कहानी बयान करते हैं। चरखा और पुरानी लकड़ी की ढरकी (शटल) बेकार पड़े हैं, जिनसे दशकों तक प्राकृतिक ऊनों से कंबल बनाए जाते रहे जिन्हें कभी रंगने की जरूरत नहीं पड़ती थी।

भोजपुर की राधा देवी कहती हैं, "सूता बनावत के कला हमार हाथ से छूटत जा ता (सूत कातने का हुनर मैं भूलती जा रही हूं)।" सूत कातने और कपड़ा बुनने का काम करने वाली राधा आगे कहती हैं, "(2016 में) उस कंबल के बाद मैंने कोई कंबल नहीं बुना।" जिस कंबल की ओर वह इशारा करती हैं, वह भूरे रंग का मोटा सा कंबल है, जिसमें भूरे रंग के ही अलग-अलग शेड की कई धारियां बनी हुई हैं।

राधा आगे कहती हैं, "मैं बहुत छोटी उम्र से ही अपनी माई (मां), चाची और दादी के साथ ये कंबल बनाती रही हूं।" उन्हें अपनी सही उम्र तो याद नहीं है, लेकिन इतना जरूर कहती हैं, "हम इंदिरा गांधी के जमाने को देखे हैं!"

गड़हनी प्रखंड के भिनरारी गांव की गलियां कभी भेड़ों की ऊन से बने सामानों से सजी दिखाई देती थीं। सर्दियां आते ही बाजारों में पाल समुदाय के कारीगरों द्वारा बुने गए कंबल हाथों-हाथ बिक जाते थे। उनके बनाए खुरदरे रेशे वाले कंबल लोगों को सर्दियों की लंबी ठंडी रातों में गर्माहट देते थे। आज उन बाजारों की रौनक कहीं गायब हो चली है। राधा देवी गांव में अपने समुदाय की बची आखिरी महिला हैं, जिन्होंने अपने जीवन में ऐसे कंबलों की बुनाई की है।

राधा कहती हैं, "एही जात बा हमार (यही हमारी जाति है)।" फिर जोड़ती हैं, "हम लोग शुरू से यही काम करते आए हैं।"

हरी और गुलाबी रंग की साड़ी पहने राधा देवी कड़ी धूप में अपने घर की कच्ची दीवार के सहारे खड़ी हैं। वह याद करती हैं कि उन्होंने आठ-नौ साल की उम्र में कंबल बुनाई का काम सीखना शुरू किया था। वह कभी स्कूल नहीं गईं। यह हुनर उन्होंने अपनी मां से सीखा था। उनके पिता और दादा के पास सौ से भी अधिक भेड़ें थीं। आमतौर पर परिवार की महिलाएं ऊन से कंबल और स्वेटर बुनती थीं, जबकि पुरुष उन्हें आसपास के गांवों और कभी-कभी दूसरे जिलों में जाकर बेचते थे। शादी के बाद भी उन्होंने यही व्यवस्था देखी। उनके पति और ससुर भेड़ें पालते थे, जबकि सास कंबल बुनती थीं।

पाल समुदाय बिहार में अन्य पिछड़ा वर्ग (ओबीसी) के रूप में वर्गीकृत है। समुदाय के लगभग 40-45 परिवार लंबे समय से इस गांव में रहते आए हैं। जाति व्यवस्था के कारण पीढ़ी दर पीढ़ी हर परिवार एक ही पेशे से जुड़ा रहा।

पुरुष चार-पांच लोगों का समूह बनाकर भेड़ें चराने निकलते थे। वे ताजा घास की तलाश में नदी किनारे-किनारे चलते रहते। अपने साथ अनाज, बर्तन, छोटे तंबू, साइकिलें और जरूरत का अन्य सामान ले जाते तथा भेड़ों के झुंड के साथ एक-दो महीने तक डेरा डालकर रहते थे।

राधा देवी कहती हैं, "हर परिवार के पास आम तौर पर 100 से 150 भेड़ें हुआ करती थीं। वे उनसे ऊन इकट्ठा करके कंबल बुनते थे।" महिलाएं एक साथ बैठकर बुनाई करती थीं और अलग-अलग डिजाइन तथा पैटर्न वाले कंबल तैयार करती थीं।

यह काम मौसम के अनुसार चलता था। बरसात में ऊन इकट्ठा की जाती, शरद ऋतु में धागा काता जाता और सर्दियों में कंबल बुने जाते। भेड़ें केवल आजीविका का साधन नहीं थीं, बल्कि पहचान और सामाजिक प्रतिष्ठा का भी आधार थीं।

दस वर्ष पहले राधा देवी ने जो आख़िरी कंबल बुना था, वह भी खुद को सिर्फ़ व्यस्त रखने के लिए बनाया था और अब भी वह उनके निजी इस्तेमाल में है

"एक डबल साइज का कंबल कम-से-कम 1,000 से 1,200 रुपये में बिकता था।" करीब 15 साल पहले तक वह हर साल सात से दस कंबल बुन लिया करती थीं। उनके बेटे राकेश को याद है कि वह ये कंबल साइकिल पर लादकर अपने पिता के साथ बेचने के लिए जाया करते थे। राकेश कहते हैं, "शुरुआत में हमने काफी कंबल बेचे। फिर उनकी बिक्री धीरे-धीरे कम होती गई।"

> "शुरु में हमने काफी कंबल बेचे। फिर उनकी बिक्री धीरे-धीरे कम होती गई।" इन कंबलों की तुलना में मशीन से बने कंबल आधी कीमत पर मिलने लगे और उन्होंने धीरे-धीरे बाजार में हाथ से बुने कंबलों की जगह ले ली। वे सस्ते, मुलायम और अधिक रंग-बिरंगे थे। अब राधा का परिवार भी उन्हीं का इस्तेमाल करता है

इन कंबलों की तुलना में मशीन से बने कंबल आधी कीमत पर मिलने लगे और उन्होंने धीरे-धीरे बाजार में हाथ से बुने कंबलों की जगह ले ली। वे सस्ते, मुलायम और अधिक रंग-बिरंगे थे। अब राधा का परिवार भी उन्हीं का इस्तेमाल करता है।

कंबलों की मांग में तो गिरावट आई ही है, साथ ही ऊन की उपलब्धता भी कम हो गई है। राकेश कहते हैं, "पहले चराई के लिए बहुत सारी खुली जमीनें थीं। अब खेतों में बाड़ लगा दी गई है और सड़कें बन गई हैं। भेड़ों के झुंड के साथ चलना मुश्किल हो गया है।" समय के साथ हुए ऐसे बदलावों ने उस पेशे को और भी कमजोर किया है, जो पहले से ही कई असुरक्षाओं से घिरा था, जहां केवल एक खराब मौसम या दुर्घटना से पूरे साल की कमाई बर्बाद हो सकती है।

राकेश के चचेरे भाई धर्मेंद्र कहते हैं, "पहले लोग अपने खेतों में हमारे जानवरों को चरने देते थे। अब लोग झगड़ा करने लगते हैं।" उन्हें रेलवे स्टेशन के पास हुई एक दुर्घटना याद है, जब एक ट्रेन ने उनकी करीब 100 भेड़ों को कुचल दिया था। वह कहते हैं, "वह बहुत बड़ा नुकसान था और हमें कोई मदद नहीं मिली।" ऐसी अनिश्चितताओं के चलते समुदाय के ज्यादा से ज्यादा पुरुष मजदूरी के लिए बिहार से बाहर जाने लगे। धर्मेंद्र का खुद का बेटा अब दिल्ली में काम करता है और केवल दिवाली तथा छठ के समय घर लौटता है।

कुछ साल पहले भेड़ें चराते समय लू लगने से राकेश के पिता की मृत्यु हो गई थी। उसके बाद से राकेश अपने पिता का काम संभालने लगे। लेकिन अब वह अपनी पत्नी के साथ केवल 30-40 जानवर ही पालते हैं। उनकी पत्नी खेतिहर मजदूर भी हैं। उनका बेटा सुनील और बहू रीना गांव में किराने की एक छोटी-सी दुकान चलाते हैं। सुनील और रीना अपने बेटे को स्कूल में पढ़ा रहे हैं, जो आगे चलकर भेड़ पालने का काम नहीं करेगा।

आज यह परिवार गुजारे के लिए अपनी दुकान, दो गायों के दूध की बिक्री, दिहाड़ी मजदूरी और कभी-कभार कसाइयों को 2,500 से 3,000 रुपये प्रति भेड़ के हिसाब से की जाने वाली बिक्री पर निर्भर है।

*

राधा देवी इस संवाददाता को एक तह किया हुआ कंबल दिखाती हैं। यह आखिरी कंबल है जिसे उन्होंने अपने लिए बुना था। उन्होंने इसे लगभग 2012 में बुनना शुरू किया था और 2016 में पूरा किया। बढ़ती उम्र के कारण उनके हाथ कांपने लगे थे, इसलिए बहुत धीरे-धीरे इस काम को पूरा कर पाईं। उन्होंने यह कंबल केवल खुद को व्यस्त रखने और समय काटने के लिए बनाना शुरू किया था।

उनके बेटे ने भेड़ों के शरीर से ऊन निकालकर उसे नदी में धोया और धूप में सुखाया था। उनकी बहू ने डंडे से पीटकर ऊन को मुलायम बनाया और राधा देवी ने लकड़ी के अपने पुराने चरखे पर उसका धागा काता था। आज वह कंबल घर के एक कोने में तह करके रखा है। उसके साथ बची हैं तो केवल यादें: भेड़ों की घंटियां, जो अब नहीं बजतीं, और वे सारी तकलियां, जो अब बेकार पड़ी हैं। ■

साभार: ruralindiaonline.org

Nehru centre

नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम

वेस्टर्न एक्सप्रेसवे पर
मुंबई के हृदयस्थल में,
बीकेसी से सटे,
एयरपोर्ट के पास

इन सबके लिए सर्वोत्तम:
- कॉरपोरेट/एचआर मीटिंग, सेमिनार या ट्रेनिंग सेशंस
- व्याख्यान
- बुक लॉन्च/ बुक रीडिंग
- पैनल डिस्कशन
- साहित्यिक/सांस्कृतिक कार्यक्रम

ऑडिटोरियम उपलब्ध है
-पूरा दिन सुबह 10 बजे से शाम 8 बजे
-आधा दिन सुबह 10 बजे से दोपहर 2 बजे या शाम 4 बजे से शाम 8 बजे

बुकिंग के लिए कृपया संपर्क करें: +91 22-26470102, 8482925258
या हमें लिखें: contact@nehrucentre.com
नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम, दूसरा फ्लोर, एजेएल हाउस, 608/1ए, प्लॉट नं. 2, एस. नं. 341, पीएफ ऑफिस के पास, बांद्रा, मुंबई- 400051